"जैनविजय" प्रिन्टिंग प्रेस–सूरतमें
मूलचन्द किसनदास कापड़ियाने
मुद्रित किया।

दो शब्द ।

णीचो वि होइ उच्चो, उच्चो णीचत्तणं पुण उवेइ ।
जीवाणं खु कुलाइं, पवियस्स व विस्समंताणं ॥२१॥
—भगवती आराधनासार ।

आचार्यप्रवर श्री शिवकोटि महाराजका यह उपदेश हम लोगोंके लिये उपादेय है कि जगतमें नीच कहे जानेवाले लोग उच्च भी होते हैं और उच्च होकर नीच भी होजाते हैं । इसलिये जाति और कुलको अधिक महत्व देना व्यर्थ है—वह तो मात्र पथिकके लिये विश्रामगृहके समान है । जैसे पथिक एक विश्राम—स्थानको त्यागकर दूसरेमें और फिर उसे त्यागकर तीसरेमें जा ठहरता है वैसे ही जीव नीच—ऊँच कुलोंमें परिभ्रमण करता है ।

इसका अभिमान करना व्यर्थ ही नहीं हानिकर है । किन्तु खेद है कि आधुनिक लोग इस सत्यको भूलगये हैं । जाति और कुलका घमण्ड बड़ा अनर्थ कर रहा है । जैनसाहित्य महारथी श्री० पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार (सरसावा) को यह अनर्थ अखरा। उन्होंने चाहा कि एक ऐसा ग्रन्थ प्रगट किया जाय जो जैन धर्मके पतितोद्धारक स्वरूपको प्रकाशित करे । इसके लिये उन्होंने पुरस्कार भी रक्खा, किन्तु खेद है कि इस विषयपर इस मेरी रचनाके अतिरिक्त और कोई रचना न रची गई। हर्ष है कि श्री० सेठ मूलचन्द किसनदासजी कापड़िया सूरतने इसे शीघ्र ही प्रगट कर दिया है, इस कृपाके लिये मैं आभारी हूं। जनता इससे सत्यके दर्शन करके अपना आत्मकल्याण करे, यही भावना है । इति शुभं भूयात् ।

अलीगंज (एटा)
ता० ११-९-१९३६

विनीत—
कामताप्रसाद जैन ।

उत्सर्ग ।

श्रीमान् दानवीर स्व०
लाला शिवचरणलालजी
जसवन्तनगरकी पवित्र
स्मृतिमें यह उनकी
भा व ना पू र क
कृति सादर
सप्रेम
उत्सर्ग
है ।

—कामताप्रसाद ।
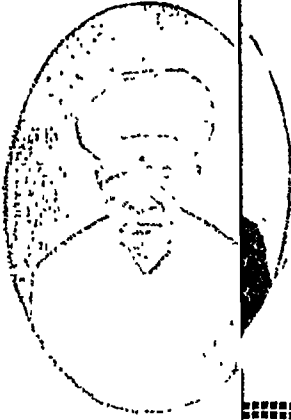
स्वर्गीय—

सेठ किसनदास पूनमचंद कापडिया—

स्मारक ग्रन्थमाला नं० १.

अपने पूज्य पिताजीके अंत समय हमने २०००) इस-
लिये निकालनेका संकल्प किया था कि इस रकमको स्थायी
रखकर उसकी आ[य]मेंसे पूज्य पिताजीके स्मरणार्थ एक स्थायी
ग्रन्थमाला निका[ल]कर उसका सुलभ प्रचार किया जाय।
उसको कार्यरूपमें परिणत करनेके लिये यह ग्रन्थमाला प्रारम्भ
की जाती है। औ[र] उसका यह प्रथम ग्रन्थ "पतितोद्धारक
जैनधर्म" प्रगट कि[या] जाता है। इसी प्रकार आगे भी यह
ग्रन्थमाला चालू र[खनेकी] हमारी पूर्ण अभिलाषा है।

हमारी यह [भी] भावना है कि ऐसी अनेक 'स्थायी ग्रंथ-
मालायें' जैन सम[ाज]में स्थापित हों। और उनके द्वारा जैन
साहित्यका जैन अ[जैन] जनतामें सुलभतया प्रचार होता रहे।

—प्रकाशक।

निवेदन।

आज हमें यह 'पतितोद्धारक जैनधर्म' प्रगट करते हुये महान् हर्ष होरहा है। एक तो इसका विषय ही रोचक, कल्याणकर एवं प्रभावना पूर्ण है, दूसरे इसके सुप्रसिद्ध विद्वान लेखक बाबू कामता-प्रसादजी जैनकी लेखनी ही ऐसी प्रशस्त है कि जिससे यह ग्रन्थ सर्वप्रिय बन गया है।

इस ग्रंथमें प्रारम्भसे अन्ततक यह बतानेका प्रयत्न किया गया है कि जैन धर्म महानसे महान पतित प्राणियोंका उद्धारक है। इसमें जातिकी अपेक्षासे धर्मका बटवारा नहीं किन्तु योग्यताके आधारपर धर्म धारण करनेकी आज्ञा दी गई है। जैनधर्मका प्रत्येक सिद्धान्त, उसकी प्रत्येक कथायें और तमाम ग्रन्थ इस बातको पुकार पुकारकर कह रहे हैं कि धर्मका किसी जाति-विशेषके लिये ठेका नहीं है। चाहे कोई ब्राह्मण हो या क्षत्रिय, वैश्य हो या शूद्र सभी धर्म धारण करके आत्मकल्याण कर सकते हैं।

जैनाचार्योंने स्पष्ट कहा है कि—

विप्रक्षत्रियविट्शूद्राः प्रोक्ताः क्रियाविशेषतः।
जैनधर्मे पराः शक्तास्ते सर्वे बांधवोपमाः॥

इसके साथ ही जैनधर्म किसीको पापी या धर्मात्मा होनेका बिल्ला सदाके लिये नहीं लगा देता, किन्तु वह स्पष्ट प्रतिपादन करता है कि:—

महापापप्रकर्ताऽपि प्राणी श्रीजैनधर्मतः ।
भवेत् त्रैलोक्यसम्पूज्यो धर्मात्किं भो परं शुभम् ॥

इसी प्रकार यह भी कहा है कि—" अनार्यमाचरन् किंचिज्जायते नीचगोचरः ।" तात्पर्य यह है कि मनुष्यकी उच्चता नीचता शुद्ध आचार विचार और धर्मपालन या उसके विपरीत चलनेपर आधार रखती है । जन्मगत ठेका किसीको नहीं दिया गया है ।

इन्हीं सब बातोंका प्रतिपादन हमारे विद्वान लेखकने इस पुस्तकमें बड़ी ही उत्तमतासे किया है । इस पुस्तकके प्रारम्भिक ३६ पृष्ठोंसे पाठक जैनधर्मकी उदारताको भलीभांति समझ सकेंगे । और उसके बाद दी गई २० धर्मकथाओंसे ज्ञात कर सकेंगे कि जैनधर्म कैसे कैसे पतितोंका उद्धार कर सकता है और उसकी पावन पाचकशक्ति कितनी तीव्र है। इस पुस्तककी अन्तिम दो कथाओंको छोड़कर बाकी सभी कथायें जैन शास्त्रोंकी हैं। विद्वान लेखकने उन्हें कई पुस्तकोंके आधारसे अपनी रोचक भाषामें लिखा है । आशा है कि जैनसमाज इनका मनन करेगी और जैनधर्मकी पतितोद्धारकताको समझकर अपने पतित भाइयोंका उद्धार करनेकी उदारता बतायगी।

साथ ही हमें एक निवेदन और कर देना है कि इन कथाओंका हेतु जैन धर्मकी पतितोद्धारकता प्रगट करना है । इससे कोई ऐसा अनर्थ न करें कि जब भयंकरसे भयंकर पाप धुल सक्ते हैं तब पापोंसे क्यों डरा जाय ? पानी और साबुनसे वस्त्र शुद्ध होसक्ते हैं, इसलिये मैले वस्त्रोंको साफ करना चाहिये, किन्तु

यदि कोई जानबूझकर पानी और साबुनके भरोसे अपने वस्त्रोंको कीचड़में सान ले तो यह उसकी मूर्खता होगी। इसलिये सर्वदा अपनी आत्माको पापसे बचाते हुये अन्य पापी, दीन, पतित मानवोंके उद्धारमें अपनी शक्ति लगाना चाहिये, यही विवेकियोंका कर्तव्य है। आशा है कि समाज संकीर्णता और भीरुताको छोड़कर जैनधर्मकी पतितोद्धारकताका उपयोग करेगी और विद्वान लेखककी इस अपूर्व कृतिका अच्छा प्रचार करेगी।

इस ग्रन्थका सुलभ प्रचार हो इसलिये इसे 'दिगंबर जैन' के ग्राहकोंको भेटस्वरूप वितरण करनेका हमने प्रबंध किया है तथा जो 'दिगंबर जैन' के ग्राहक नहीं हैं उनके लिये अमुक प्रतियां विक्रयार्थ भी निकाली गई हैं।

अंतमें हम इस ग्रन्थके विद्वान लेखक बा० कामताप्रसादजीका ऐसी उत्तम उद्धारक रचनाके लिये आभार मानते हुए उन विद्वानोंका भी आभार मानते हैं जिनकी पुस्तकोंके आधारपर इस ग्रंथकी रचना हुई है।

सूरत—वीर सं० २४६२
ज्येष्ठसुदी १९ ता० ५-६-३६ } मूलचंद किसनदास कापड़िया,
—प्रकाशक।

स्वर्गीय सेठ किसनदास पूनमचंदजी कापडिया–सुरत।

जन्म– स्वर्गवास–

सं० १९०८ आश्विन वदी ८. सं० १९९० माघ सुदी ९.

संक्षिप्त जीवनचरित्र–

स्व० सेठ किसनदास पूनमचन्दजी कापड़िया–सूरत।

करीब सवासौ वर्षकी बात है कि गंगराड़ (मेवाड़) निवासी वीसा हूमड़ दि०जैन श्रीमान् हरचंद रूपचंदजी अपनी आर्थिक स्थिति ठीक न होनेसे नौकरीके लिये सूरत आये थे। सूरतमें उनने प्रमाणिकता पूर्वक नौकरी की। उनके पुत्र पूनमचंद हुये। उनका लालन-पालन साधारण स्थितिमें हुआ था। बड़े होनेपर उनने अफीमका व्यापार प्रारम्भ किया।

श्रीमान् पूनमचंदके दो पुत्र थे–एक कल्याणचंद और दूसरे किसनदास। श्रीमान् कल्याणचंदजीके मात्र एक पुत्री (श्रीमती काशीबाई) हुई थी, जो भारत० दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी बम्बईके भूतपूर्व महामंत्री स्व० सेठ चुन्नीलाल हेमचंद जरीवालोंकी धर्मपत्नी हैं। श्री० किसनदासजीका जन्म विक्रम सं० १९०८ की आश्विन वदी ८ को सूरतमें हुआ था। उससमय कौटुम्बिक स्थिति साधारण ही थी और आपकी अल्पावस्थामें ही आपके पिताजीका स्वर्गवास होगया था। इसलिये गृहस्थीका सारा भार आपपर ही आपड़ा। इसी लिये आप चौथी गुजरातीसे आगेका ज्ञान प्राप्त नहीं कर सके।

श्री० किसनदासजी कुछ दिनतक तो अपने पिताजीकी अफीमकी दुकान देखते रहे और फिर बम्बई जाकर मोती

बांधनेका काम करने लगे। कुछ समय बाद आप वहांसे वापिस सूरत आगये। यहां आकर एक दो जगह नौकरी की। फिर टोपी और कपड़ेकी दुकान प्रारम्भ की। किन्तु वह ठीक नहीं चली, तब सूरती पगड़ी बांधनेका काम प्रारम्भ किया। फिर कुछ समय बाद आपने वैष्णवोंके बृहत् मंदिरमें काचकी चूड़ियोंकी और उसके साथ ही साथ कपड़ेकी एक दूकान खोली। इस दुकानसे आपको उत्तरोत्तर अच्छी आमदनी होती गई और धीरे२ वहां अन्य कई कपड़ेकी दुकानें होगईं तथा यहां एक अच्छा बाजार बन गया। कपड़ेके अच्छे व्यापारके कारण आप 'कापड़िया' कहलाने लगे। बृहत् मंदिरके कपड़ेके बाजारके संस्थापक आप ही थे।

सेठ किसनदासजीके ६ संतानें हुईं। उनमें चार पुत्र १-मगनलालजी, २—जीवनलालजी, ३—मूलचंदजी, ४—ईश्वरलालजी और दो पुत्रियां १—मणीबहिन, २—नानीबहिन थीं। इनमेंसे मगनलालजीका २४, और जीवनलालजीका ४९ वर्षकी आयुमें स्वर्गवास होगया। तीसरे **मूलचंदजी कापड़िया** (हम) ने गुजराती, अंगरेजी, हिन्दी, संस्कृत और धर्मका ज्ञान प्राप्त करते हुये पिताजीके व्यापार किया और फिर '**दिगंबर जैन**' पत्र निकालना प्रारम्भ किया। उसके बाद 'जैनविजय प्रेस', जैनमित्र, जैन महिलादर्श और दिगम्बर जैन पुस्तकालय आदि द्वारा जैन समाजकी जो सेवा बन सकी सो की और कर रहे हैं, तथा आजन्म करनेकी हार्दिक अभिलाषा है।

हमारे भाई ईश्वरलालजी बम्बईमें मखमलकी दुकान करते हैं।

तथा भाई जीवनलालजी सूरतमें ही कपड़ेकी दुकान करते रहे जो सं० १९८४ में उनका स्वर्गवास होनेसे बन्द कर देना पड़ी।

इसप्रकार हमारे पिताजी श्री० सेठ किसनदासजी कापड़ियाने अपनी साधारण स्थितिसे क्रमशः अच्छी उन्नति की थी। वे धन, जन, संतान एवं प्रतिष्ठासे सुखी बने और वृद्धावस्थाके कारण धीरे २ शारीरिक शक्ति क्षीण होनेसे वीर सं० २४६० माघ सुदी ९ बुधवार ता० २४ जनवरी सन् १९३४ की रात्रिको ८२ वर्षकी आयुमें धर्मध्यानपूर्वक स्वर्गवासी होगये। आपकी स्मृतिमें उस समय इसप्रकार दान प्रगट किया गया था:—

२०००) स्थायी विद्यादान आदिके लिये।
२०००) स्थायी शास्त्रदानके लिये। (हमारी ओरसे)
५१) विहार भूकम्पफंडमें।
२००) वीस संस्थाओंको।

इस प्रकार ४२५१) का दान किया गया था। आशा है कि ऐसे दानका अनुकरण अन्य श्रीमान् भी करेंगे।

निवेदक—मूलचन्द किसनदास कापड़िया—सूरत।

विषयसूची।

× × ×

(१६) चाण्डाल धर्मात्मा ।

(१७) शूद्र जातीय धर्मात्मा ।

(१८) व्यभिचारजात धर्मात्मा ।

(१९) पापपङ्कसे निकलकर धर्मकी गोदमें ।

(२०) प्रकृतिके अंचलसे ।

शुद्धाशुद्धि पत्र ।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११	१	आहार	आचार
१४	१६	मिलना चाहिए	×
१९	१०	कष्ट	नष्ट
२५	८	आज्ञाप्रधान	आज्ञाप्रदान
२६	१३	करमें	करके
३२	१०	होगा	होता
३५	१५	सुनारने	सुनारके
७४	१८	अपने	अपना
८९	१८	अभीवन्दना	अभिवन्दना
९०	७	जसे	जैसे
९२	३	सेवारा	संवारा
९४	१३	खतखता	खनखना
९६	१६	प पी नहीं	पापी
९८	४	उज्जन	उज्जैन
९८	१२	कं भी	के लिए
९९	१	स्मज	समझ
१०२	७	उपवास	उपहास
१०२	१५	ये	हे
१०४	१६	या	था

११२	१४	कड़के	लड़के
११६	१६	चित्ता	चींता
१२५	८	कुरुवंशके कारण	कुरुवंशके
१२६	२१	राजधानी	राजरानी
१२८	१९	धोतीका	धोती ला
१३८	११	आनन्दकेली	आनन्दकेलि
१४७	८	थावच्चा पुत्र	शुक
१५०	७	उनसे	उनके
१५९	४	विरा	विराज—
१७७	१५	कुमारकोंको	कुमारोंको
१९२	२२	थे	थी
२०२	१९	गनका	मनका

श्रीमान् बाबू कामताप्रसादजी जैन-अलीगंज।

[इस ग्रन्थके विद्वान लेखक]

॥ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥

पतितोद्धारक जैनधर्म ।

धर्मकी सार्वभौमिकता ।

सूर्यका धवल प्रकाश सर्वोपभोगी है। गङ्गाका निर्मल नीर सबको ही समान रूपमें सुखद है। प्रकृति इस भेदको नहीं जानती कि वह प्राणियोंमें किसीके साथ प्रेम करे और किसीके साथ द्वेष! सूर्यका प्रकाश यह नहीं देखता कि यह किसी अमीरका ऊंचा महल है अथवा किसी दीन-हीन रंककी कुटिया! गङ्गाकी निर्मल-धारा यह नहीं देखती कि गंगाजलको भरनेवाला कुलीन ब्राह्मण है अथवा एक न कहींका शूद्र! प्रकृतिकी यह स्वाभाविक सहजता धर्मका वास्तविक रूप और उसके उपयोगका यथार्थ अधिकार सिद्ध करनेके लिये पर्याप्त है। सूर्य-प्रकाशकी तरह ही धर्म

आत्मा या जीवका स्वाभाविक प्रकाश है और जब धर्म जीवात्माका स्वाभाविक प्रकाश है तब उसके उपभोगका प्रत्येक जीवधारीको अधिकार है। अधिकार क्या? वह तो उसकी अपनी ही चीज है। सूर्यका प्रकाश और गंगाका निर्मल नीर तो जीवसे दूरकी वस्तुयें हैं। पर प्रत्येक जीवधारी उनका उपभोग करनेमें पूर्ण स्वतंत्र है! अब भला कहिये, वे स्वयं अपनी चीज, अपने स्वभाव, अपने धर्मके अधिकारी क्यों न होवें? अतः मानना पड़ता है कि 'धर्म' जीवमात्रका जन्मजात ही नहीं स्वभावगत अधिकार है। और अपने स्वभावसे कोई कभी वंचित नहीं किया जासक्ता। वह तो प्रकृतिकी देन है, उसे भला कौन छीने? छीननेसे वह छिन भी नहीं सकती। सूर्यसे कौन कहे कि तुम अपना प्रकाश एक दीन-हीन रंककी कुटियामें मत जाने दो? और कहनेकी कोई धृष्टता भी करे तो वह अरण्यरोदन मात्र होगा। प्रकृतिको पलटनेकी सामर्थ्य भला है किसमें?

किन्तु प्रश्न यह है कि जीवका धर्म अथवा स्वभाव है क्या?

धर्मका स्वरूप।

इस प्रश्नको हल करनेके लिये हमें जगतके प्राणियोंपर एक दृष्टि डालनी चाहिये। देखना चाहिये कि जगतके प्राणी चाहते क्या हैं? उनकी सहज सामूहिक क्रिया क्या है? उनपर जरा गहरी दृष्टि डालनेसे पता चलता है कि प्रत्येक प्राणी सुखसे जीवन व्यतीत करना चाहता है। उसे आनंदकी वाञ्छा है और उस आनंदकी प्राप्तिके लिये वह अपने ज्ञानको विकसित करने तथा अपनी शक्तिको उस ज्ञानके इशारेपर व्यय करनेके लिये प्रयत्नशील है। चाहे नन्हासा

कीड़ा हो और चाहे श्रेष्ठ नर, दोनोंका पुरुषार्थ एकही उद्देश्यको लिये हुये है। ज्ञान और शक्तिकी हीनाधिकता उनके उद्देश्यमें कुछ भी अन्तर नहीं डालती! प्रत्येक अपनी परिस्थितिके अनुकूल 'सुख' पानेके लिये उद्यमी है। अतः प्राणियोंकी इस साहजिक क्रियाके आधारसे हमें उसके स्वभाव, उसके धर्मका ठीक परिचय मिल जाता है। प्रत्येक जीव-प्राणीका स्वभाव-उसका धर्म सुख तथा ज्ञान और शक्तिरूप है। इसलिये प्रत्येक वह नियम-मनुष्यका प्रत्येक वह कार्य जो प्राणीके लिये सुख, ज्ञान और शक्तिको प्रदान करे, 'धर्म' के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जासकता।

आज संसारमें ऐसे नियम और किन्हीं खास मनुष्योंके, जिनको संसारने महापुरुष माना है, महत् कार्योंको ही पन्थ और सम्प्रदायके रूपमें 'धर्म' कहा जाता है। किन्तु वे पन्थ और सम्प्रदाय तथा उनके नियम तब ही तक और वहीं तक 'धर्म' कहे जासकते हैं जबतक और जहांतक वे जीवके स्वभाव-सुख, ज्ञान और वीर्यके अनुकूल हों और उन्हें प्रत्येक जीवको उपभोग करने देनेमें स्वाधीनता प्रदान करते हों! इसके प्रतिकूल होनेपर उन्हें 'धर्म' मानना 'धर्म' का गला घोंटना है।

जैन धर्म।

जैनाचार्योंने 'धर्म' की व्याख्या ठीक वैज्ञानिक-प्राकृत रूपमें की है। वे कहते हैं कि 'वस्तुका स्वभाव धर्म है।' जिसप्रकार सूर्यका स्वभाव प्रकाश, जलका स्वभाव शीतलता और अग्निका स्वभाव उष्णता उन प्रत्येकका अपना-अपना धर्म है, ठीक

वैसे ही जीवका अपना—आत्मस्वभाव उसका धर्म है। और वह स्वभाव सुख, ज्ञान तथा वीर्यरूप है, यह हम ऊपर लिख चुके हैं। जैनाचर्योंने अनेक शास्त्रोंमें जीवके इस स्वाभाविक धर्मका निरूपण बड़े अच्छे ढंगसे किया है। नये और पुराने सबही समयके जैनाचार्य इस निखर सत्यका निरूपण करते हैं। देखिये कहा गया है—

णाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य, एयं जीवस्स लक्खणं ॥११-२८-३०॥

अर्थात्–'ज्ञान, दर्शन, चारित्र तप, वीर्य और उपयोग यही जीवके लक्षण हैं।' एक अन्य जैनाचार्य इसी बातको और भी स्पष्ट करते हुये कहते हैं:—

'ज्ञानदर्शनसम्पन्न आत्मा चैको ध्रुवो मम।
शेषा भावाश्च मे बाह्या सर्वे संयोगलक्षणाः ॥२४॥' सारसमुच्चय

अर्थात्–'मेरा आत्मा एक अविनाशी, ज्ञान-दर्शनसे पूर्ण द्रव्य है—अन्य सर्व रागादि भाव मेरेसे बाहर हैं और जड़के संयोगसे होनेवाले हैं।'

इसप्रकार धर्मकी व्याख्याका अनेक जैन ग्रन्थोंमें सारगर्भित विवेचन है। वहांपर धर्म निखर सत्य—जीवका अपना स्वभाव ही घोषित किया गया है। व्यवहारिक रूपमें वे सब साधन भी जो जीवको अपना निश्चयधर्म प्राप्त करनेमें सहायक हों 'धर्म' के अन्तर्गत गृहण कर लिये गये हैं।

जैन धर्म सार्वधर्म है।

अब चूंकि जैनाचार्य भी धर्मको प्राकृत जीवका स्वभाव घोषित करते हैं, तब यह उनके लिये अनिवार्य है कि वे जीव मात्रको उस यथार्थ धर्मको पालन करनेके लिये उत्साहित करें—उन्हें आत्म-ज्ञानकी शिक्षा देवें और धार्मिक क्रियाओंको पालने देनेका अवसर प्रदान करें। सचमुच गत कालमें अनेक जैन तीर्थंकर ऐसा ही कर चुके हैं। उन्होंने भटकते हुए अनेकानेक जीवोंको सच्चे धर्मके रास्ते-पर लगाया था। मार्गभ्रष्ट जीवोंको सन्मार्गपर लेआना उन्होंने अपना महान् कर्तव्य समझा था। इस कर्तव्यकी पूर्तिके लिए उन्होंने राजपाट, धन, ऐश्वर्य, सत्ता, महत्ता और रत्न रमणी सभी कुछ त्याग डाला! अपनेको महलोंका राजा बनाये रहना उन्हें प्रिय न हुआ। वे रास्तेके फकीर बने और तनपर एक धज्जी भी न रक्खी। मान अपमान, ताड़न-मारन, सब कुछ उन्होंने समभावसे सहन किया और यह सब कुछ सहन किया एक मात्र अपना कर्तव्य पालन करनेके लिये—जीव मात्रका कल्याण करनेके लिये। सचमुच वे महान् जगदुद्धारक थे—जीव मात्रका उन्होंने उपकार किया। उनका धर्मो-पदेश किसी खास देशके गोरे-काले या लाल-पीले मनुष्योंके लिये अथवा किसी विशेष सम्प्रदाय या जातिके लिये ही नहीं था। उस धर्मोपदेशसे लाभ उठानेके लिये प्रत्येक समर्थ प्राणी स्वाधीन था। जैन शास्त्र कहते हैं कि मनुष्य ही नहीं, उनके धर्मको[1] श्रवण करनेके लिये उनके सभा-गृहमें पशुओं तकको स्थान प्राप्त था। जैनधर्मकी

१—हरिवंशपुराण, सर्ग २ श्लो० ७६—८०।

यह विशेषता उसकी अपनी है और यही कारण है कि उसकी छत्रछायामें आकर प्रत्येक प्राणी अभय होजाता है। जैनाचार्योंने यह स्पष्ट घोषित किया है कि:—

'एस धम्मे धुवे णितए, सासए जिणदेसिए।
सिद्धा सिज्झंति चाणेणं, सिज्झि संत तहावरे ॥१७॥१६॥उ॥'

अर्थात्–'जिनेन्द्र द्वारा कहा हुआ यह धर्म ध्रुव है—नित्य है—शाश्वत् है। इस धर्मके द्वारा अनंत जीव भूतकालमें सिद्ध हुए हैं और वर्तमान कालमें सिद्ध होरहे हैं, उसी तरह भविष्यत् कालमें भी सिद्ध होंगे।' श्री कुंदकुन्दाचार्य कहते हैं कि:—

'पयलियमाण कसाओ पयलियमिच्छत्त मोह समचित्तो।
पावइ तिहुवण सारं वोही जिणसासणे जीवो ॥ ७८ ॥'

भावार्थ–'जिनशासनकी शरणमें आकर जीव मात्र तीनलोकमें सारभूत सुबोधि–विवेक नेत्रको पाजाता है और मानकषायसे प्रगलित, कुलीन, अकुलीनके घमंडसे निकलकर, मिथ्याभावको छोड़कर मोहसे नाता तोड लेता है।' अर्थात् जैन धर्मको पाकर जीवमात्र पापपङ्कसे छूट जाता है। इस तरह जैनाचार्य किसी खास जाति या वर्गको ही धर्म पालनेका अधिकार नहीं देते। वह तो कहते हैं कि 'मन, वचन, कायसे सभी जीव धर्म धारण कर सकते हैं।' ('मनोवाक्काय धर्माय मताः सर्वेऽपि जन्तवः।'–श्रीसोमदेवसूरिः) और यह प्राकृत सुसंगत है !

उपरोक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि जैन धर्म एक वैज्ञानिक धर्म है जिसपर प्राणीमात्रका समान अधिकार है।

जैन धर्म पतितोद्धारक भी है।

किन्तु प्रकृत विषयके स्पष्टीकरणके लिये यह विशेष रूपमें देख लेना आवश्यक है कि क्या पतित जीव भी जैन धर्मसे लाभ उठा सकते हैं? क्या सचमुच जैन धर्म पतितोद्धारक है? इस प्रश्नका ठीक ठीक उत्तर पानेके लिये 'पतित' शब्दका भाव स्पष्ट होजाना नितान्त उपयोगी है। साधारणतया 'पतित' शब्दका अर्थ अपने पद—अपने स्वभाव अथवा अपनी स्थितिसे च्युत होना प्रचलित है और वह है भी ठीक। किन्तु जीवके सम्बन्धमें उसका अर्थ क्या होगा? निःसंदेह जीवको वह अपने स्वभाव और अपनी स्थितिसे च्युत हुआ प्रगट करता है। वास्तवमें यह है भी सच, क्योंकि जीवका स्वभाव पूर्ण ज्ञान दर्शन और सुखरूप है, किन्तु आज प्रत्येक जीवमें उसकी अभिव्यक्ति पूर्ण रूपसे दृष्टिगोचर नहीं होती।

जीव तीन लोककी विभूतिसे अधिक विभूतिका स्वामी होकर भी इस संसारमें न कहींका होरहा है। अधिकांश जीव तो अपने इस 'स्वाभाविक-संपत्ति' से बिल्कुल हाथ धोये होते हैं। वे क्रोध, मान, माया, दम्भ, अज्ञान, व्यभिचार आदि दुर्गुणोंमें ऐसे रत होते हैं कि लोग उन्हें 'अधर्मी' 'पापी' कहते हैं। सचमुच ये सब पतित हैं—कोई कम है और कोई ज्यादा। अपनी अच्छी-बुरी कषायजनित मन, वचन, क्रियाके वशवर्ती होकर जीव अनादिकालसे अपनेसे भिन्न एक सूक्ष्म पुद्गलरूप मैलको अपनेमें जमा करता आरहा है, जिसे जैनदर्शनमें

कर्ममल' कहते हैं। इस 'कर्ममल' के कारण ही जीव अपनी स्वाभाविक स्थितिको खोये बैठा है। वह 'पतित' है।

किन्तु अब प्रश्न यह है कि-क्या यह संभव है कि यह पतित जीव अपना उद्धार कर सकेगा? अपनेको पतन-गह्वरसे निकालकर आत्म-स्वभावकी ऊँची शैल-शिखरपर बिठा सकेगा? निःसंदेह यह संभव है। यदि यह संभव न होता तो आज संसारमें 'पंथ' और 'मत' दिखाई न पड़ते-धर्म-कर्मका प्रचार कहीं न होता। प्रकृतिका यह नियम है कि वह अपने पदसे भ्रष्ट हुएको सत्संगति दिलाकर श्रेष्ठ पद—उसका वही पद उसे दिलादे जिसे वह खो बैठा है। गंगाजलको मनुष्य काममें लाते हैं। वह ढलकर नालीमें जाकर गंदा होजाता है-अपनी पवित्रता और श्रेष्ठता खो बैठता है। कोई भी उसे छूने तकको तैयार नहीं होता। किन्तु जब वही पतित' पानी गंगाकी पवित्र धारामें जा मिलता है तो अपना गंदापन खो बैठता है और उसीको फिर मनुष्य भरकर लाते हैं तथा देव प्रतिमाओंका उससे अभिषेक करते हैं।

प्रकृतिकी यह क्रिया पतितोद्धारको सहज-साध्य प्रमाणित करती है। मेघके कोटि पटल सूर्यके प्रकाशको छुपा देते हैं; परन्तु फिर भी वह चमकता ही है। ठीक यही बात जीवके सम्बन्धमें है। संसारमें वह अपने स्वभावको पूर्ण प्रकट करनेमें असमर्थ हो रहा है; परन्तु वह है उसीके पास! वह उसका धर्म है! बाहरी 'मैटर' कब तक उसको घेरे रहेगा? आखिर एक अच्छे-से दिन वह उससे छूटेगा और वह अपना 'महान् पद'

अवश्य प्राप्त करेगा। उसका पतित जीवन नष्ट हो जायगा। लोकमें प्रत्यक्ष अनेक चारित्र हीन मनुष्य समयानुसार धर्मात्मा बनते दृष्टि पड़ते हैं। अतएव पतितका उद्धार होना स्वाभाविक है। जैनधर्म पतितोद्धारक एक वैज्ञानिक विधानके सिवाय और कुछ नहीं है। उसकी शिक्षा यही सिखाती कि अपने पदसे भ्रष्ट अथवा पतित हुआ जीव संसारसे मुक्त होकर अपना स्वाभाविक पद प्राप्त करे। और इसके सुलभ प्रचारके लिये वह अपने धर्म प्रचारकोंके निकट मनुष्य ही नहीं पशुओं तकके आने और धर्मामृत पान करनेकी उदारता रखता है; क्योंकि विना संत-समागमके सन्मार्ग मिलना दुर्लभ है। इसीलिये भगवान महावीरका यह उपदेश है कि:—

'सवणे नाणे विण्णाणे, पच्चक्खाणे य संजमे।
अणाहए तवे चेव वोदाणे, अकिरिया सिद्धी ॥२।५॥ भगवती'

अर्थात्—"ज्ञानीजनोंके संसर्गमें आनेसे धर्म श्रवण होता है। धर्म श्रवणसे ज्ञान होता है, ज्ञानसे विज्ञान होता है, विज्ञानसे दुराचारका त्याग होता है। और इस त्यागसे संयमी जीवन बनता है। संयमी जीवनसे जीव अनाश्रवी होता है और अनाश्रवी होनेसे तपवान् होता है। तपवान् होनेसे पूर्व संचित कर्मोंका नाश होता है और कर्मोंका नाश होनेसे जीव सावद्य क्रिया रहित होता है। बस, सावद्य क्रिया रहित होनेसे उसे सिद्धि-मुक्ति प्राप्त होती है।" एक पतित जीव धर्म—जैनधर्मका ज्ञान पाकर परम पूज्य मुक्त आत्मा हो जाता है।

धर्म जातिगत उच्चता नीचता नहीं देखता।

प्रभु महावीरने अपने इस धर्मका द्वार प्रत्येक जीवके लिये खुला रक्खा था; किन्तु खेद है कि उनकी इस समुदार शिक्षाको उनके शिष्योंने कुछ समयसे भुला दिया है। इसमें मुख्य कारण देशकालकी परिस्थिति थी। पौराणिक हिन्दू धर्मके प्रचार और प्राबल्यके सम्मुख जैनी अपने समुदार सिद्धांतको अक्षुण्ण न रख सके। प्रवृत्तिमें वे अपने पड़ोसी हिन्दू भाइयोंकी नकल करनेके लिये लाचार हुये। किन्तु अब देश—कालकी परिस्थिति बदल गई है। प्रत्येक मनुष्यको अपने मतको पालने और उसका प्रचार करनेकी स्वाधीनता है। अतएव इस समय तो प्रत्येक जैनीको भगवान महावीरके धर्मोपदेशकी महान् उदारताका प्रतिघोष जोरके साथ करना उचित है। प्राचीनसे अर्वाचीन प्रत्येक जैनाचार्य इस उदारताकी घोषणा स्पष्ट रूपेण करते हैं। उनका दिग्दर्शन निम्न पंक्तियोंमें करके प्रत्येक वीरभक्तके प्रति कर्तव्य—पालन करनेके लिये हमारा सादर निमंत्रण है। जैनधर्ममें मनुष्योंकी एक जाति बताई गई है।[1] वह मनुष्योंमें पशु जगतके सदृश भेद स्थापित

१—'मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा।
वृत्तिभेदा हि तद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते॥ ३८-४३॥
—आदिपुराणे जिनसेनः।

भावार्थ—जाति नाम कर्मके उदयसे मनुष्य जाति एक है, परन्तु वृत्तिके भेदसे उसमें क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र रूप चार वर्णोंकी कल्पना की गई है।

नहीं करता । हां, आहार या वृत्तिके आधारसे उसमें भी मनुष्योंको क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र वर्णोंमें विभक्त किया गया है।[1]

१–'वर्णाकृत्यादिभेदानां देहेऽस्मिन्न च दर्शनात् ।
ब्राह्मण्यादिषु शूद्राद्यैर्गर्भाधानप्रवर्तनात् ॥
नास्ति जातिकृतो भेदो मनुष्याणां गवाऽश्ववत् ।
आकृतिर्ग्रहणात्तस्मादन्यथा परिकल्पते ॥

—महापुराणे गुणभद्रः ।

भावार्थ–" इन जातियोंका आकृति आदिके भेदको लिये हुए कोई शाश्वत् लक्षण भी गो–अश्वादि जातियोंकी तरह मनुष्य शरीरमें नहीं पाया जाता, प्रत्युत इसके शूद्रादिके योगसे ब्राह्मणी आदिकमें गर्भाधानकी प्रवृत्ति देखी जाती है, जो वास्तविक जातिभेदके विरुद्ध है।"

' आचारमात्रभेदेन जातीनां भेदकल्पनं ।
न जातिर्ब्राह्मणीयास्ति नियता क्वापि तात्त्विकी ॥१७–२४॥

—धर्मपरीक्षा ।

अर्थात्–" जातियोंकी जो यह ब्राह्मण, क्षत्रियादि रूपसे भेद कल्पना है, वह आचार मात्रके भेदसे है–वास्तविक नहीं। वास्तविक दृष्टिसे कहीं भी कोई शाश्वत् ब्राह्मण (आदि) जाति नहीं है।

श्री रविषेणाचार्य भी जातिको कोई तात्त्विक भेद न मानकर आचारपर ही उसे अवलंबित कहते हैं:—

' चातुर्वर्ण्यं यथान्यच्च चाण्डालादिविशेषणं ।
सर्वमाचारभेदेन प्रसिद्धं भुवने गतम् ॥ '

अर्थात्–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र या चाण्डालादिकका तमाम विभाग आचरणके भेदसे ही लोकमें प्रसिद्ध हुआ है।' ' अतः जिस जातिका जो आचार है उसे जिस समय कोई व्यक्ति नहीं पालता है,

किन्तु यह वृत्तिभेद मनुष्योंमें किसी प्रकारका मौलिक भेद स्थापित नहीं करता। इसीलिये जैनधर्ममें कोई भी मनुष्य जन्म गत जातिके कारण गर्हित नहीं ठहराया गया है। जन्मका एक ब्राह्मण और चांडाल दोनों ही समान रीतिमें धर्म-पालनेके अधिकारी हैं। दिगंबर जैनाचार्य श्री कुन्दकुन्दस्वामी इसीलिये कहते हैं कि:—

उस समय वह उस जातिका नहीं रहता; बल्कि वह तो उस जातिका व्यक्ति वस्तुतः होजाता है, जिसका आचार वह पालन करता है। ऐसी दशामें ऊँची जातिवाले नीच और नीच जातिवाले ऊँच होजानेके अधिकारी ठहराये गये हैं। "धर्म परीक्षा" में श्री अमितगति आचार्यने गुणोंके होनेपर जातिका होना और गुणोंके नाश होनेपर जातिका विनाश माना है। ('गुणैः संपद्यते जातिर्गुणध्वंसैर्विपद्यते') उन्हींका वचन है कि:—

'ब्राह्मणोऽवाचि विप्रेण पवित्राचारधारिणा।
विप्रायां शुद्धशीलायां जनिता नेदमुत्तरम् ॥ २७ ॥
न विप्राविप्रयोरस्ति सर्वदा शुद्धशीलता।
कालेनाऽनादिना गोत्रे स्खलनं क न जायते ॥२८॥'

अर्थात्-'यदि यह कहा जाय कि पवित्र आचारधारी ब्राह्मणके द्वारा शुद्ध शीला ब्राह्मणीके गर्भसे जो पुत्र उत्पन्न होता है उसे ब्राह्मण कहा गया है–तुम ब्राह्मणाचारके धरनेवालेको ही ब्राह्मण क्यों कहते हो? तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि यह मान लेनेके लिये कोई कारण नहीं है कि उन ब्राह्मण–ब्राह्मणी दोनोंमें सदा कालसे शुद्ध शीलताका अस्तित्व (अक्षुण्णरूपसे) चला आता है। अनादिकालसे चली आई हुई गोत्र संततिमें कहीं दोष नहीं लगता? लगता ही है।

भावार्थ–इन दोनों श्लोकोंमें आचार्य महोदयने जन्मसे जाति

'णवि देहो वंदिज्जइ णवि य कुलो णवि य जाइ संजुत्तो।
को वंदिय गुणहीणो ण हु सवणा णेय सावओ होइ ॥२७॥'

अर्थात–'देहकी वंदना नहीं होती और न कुलको कोई पूजता है। न ऊंची जातिका होनेसे ही कोई वंदनीय होता है। गुणहीनकी कौन वंदना करे ? सचमुच गुणोंके विना न कोई श्रावक है और न कोई मुनि है।' श्री समंतभद्राचार्य इसीलिये एक चाण्डालको सम्यग्दर्शन–सत् श्रद्धानसे युक्त होनेपर 'देव' कहकर पुकारते हैं:–

माननेवालोंकी बातको निस्सार प्रतिपादन किया है। जन्मसे जातीयताके पक्षपाती जिस रक्त शुद्धिके द्वारा जाति–कुल अथवा गोत्रशुद्धिकी डुगडुगी पीटा करते हैं उसीकी निस्सारताको घोषित किया है और यह बतलाया है कि वह अनादि प्रवाहमें बन ही नहीं सकती–विना किसी मिलावटके अक्षुण्ण रह ही नहीं सकती। इसी कारण आचार्य महाराजने कहा है कि:—

'न जातिमात्रतो धर्मो लभ्यते देहधारिभिः।
सत्यशौचतपःशीलध्यानस्वाध्यायवर्जितैः ॥ २३ ॥'

अर्थात्–' जो लोग सत्य, शौच, तप, शील, ध्यान और स्वाध्यायसे रहित हैं उन्हें जाति मात्रसे–महज किसी ऊँची जातिमें जन्म ले लेनेसे–धर्मका कोई लाभ नहीं होसकता है।'

श्री रविषेणाचार्य भी जन्मसे जाति माननेकी भ्रांतिका निरसन निम्न श्लोकों द्वारा करते हैं:—

"चातुर्विध्यं च यज्जात्या तन्न युक्तमहेतुकं।
ज्ञानं देहविशेषस्य न च शूद्रादिसम्भवात् ॥११–१९४॥
दृश्यते जातिभेदस्तु यत्र तत्रास्य सम्भवः।
मनुष्यहस्तिवालेयगोवाजिप्रभृतौ यथा ॥ १९५ ॥

'सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातंगदेहजं ।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढांगारान्तरौजसम् ॥२८॥रत्नक०॥'

श्री रविषेणाचार्य इसी बातको और भी स्पष्ट शब्दोंमें यों कहते हैं:—

न च जात्यंतरस्थेन पुरुषेण स्त्रियां क्वचित् ।
क्रियते गर्भसम्भूतिर्विप्रादीनाञ्च जायते ॥ १९६ ॥
अश्वायां रासभेनास्ति संभवोऽस्येति चेन्न सः ।
नितांतमन्यजातिस्थशूद्रादितनुसाम्यतः ॥ १९७ ॥
यदि वा तद्वदेव स्यात्तयोर्विसदृशः सुतः ।
नात्र दृष्टं तथा तस्माद्गुणैर्वर्णव्यवस्थितिः ॥ १९८-११ ॥

भावार्थ-"जातिसे जो ब्राह्मण आदि भेद माने जाते हैं वह ठीक नहीं हैं । किसी भी तरह ब्राह्मणके शरीरमें और शूद्रके शरीरमें अंतर नहीं माळूम देता । इसलिये यह जातिभेद अहेतुक है । जहांपर जाति दिखती है वहींपर वह सम्भव है, जैसे-मनुष्य, हाथी, गधा, बैल, घोड़ा आदिमें जातिभेद है । किसी दूसरी जातिका पुरुष किसी दूसरी जातिकी स्त्रीमें गर्भाधान नहीं कर सक्ता मिलना चाहिये, किन्तु ब्राह्मणके द्वारा शूद्रमें और शूद्रके द्वारा ब्राह्मणमें गर्भाधान होसक्ता है । इसलिये ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र-ये जुदी जुदी जातियां न कहलांई । कोई यह प्रश्न करे कि घोड़ीमें गधेसे तो गर्भ रह जाता है तो यह ठीक नहीं; क्योंकि घोड़ा और गधामें पूर्ण जातिभेद नहीं है क्योंकि खुर वगैरह२ दोनोंके समान होते हैं अथवा घोड़ी गधेसे जो सन्तान पैदा होती है वह बिल्कुल तीसरे प्रकारकी (खच्चर) होती है; लेकिन ब्राह्मणीके शूद्रके सम्बन्धसे पैदा होनेवाली सन्तान इसप्रकार विसदृश नहीं होती । इसलिए ब्राह्मणादि भेद व्यवस्था गुणसे मानना ही उपयुक्त है।"

'न जातिर्गर्हिता काचिद् गुणाः कल्याणकारणं।
व्रतस्थमपि चाण्डालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥११-२०॥पद्म०

भावार्थ—'कोई भी जाति गर्हित नहीं है—गुण ही कल्याणके कारण हैं। व्रतसे युक्त होनेपर एक चाण्डालको भी श्रेष्ठजन ब्राह्मण कहते हैं।

यही बात श्री सोमदेव आचार्य निम्न प्रकार स्पष्ट करते हैं:—

श्रीमत्प्रभाचंद्राचार्यजीने 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' नामक ग्रंथमें भी जातिवादका खासा खण्डन किया है। उस प्रकरणके मुख्य वाक्य ही यहां हम उपस्थित करते हैं:—

'न हि तत्तथाभूतं प्रत्यक्षादिप्रमाणतः प्रतीयते।'

'प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाणसे जातिका ज्ञान नहीं होता है।'

'मनुष्यत्वविशिष्टतयेव ब्राह्मण्यविशिष्टतयापि प्रतिपत्त्यसंभवात्।'—

'सविकल्पक प्रत्यक्षसे भी जातिका ज्ञान नहीं होसक्ता क्योंकि जैसे किसी व्यक्तिको देखनेसे उसमें मनुष्यताका प्रतिभास होता है उस तरह ब्राह्मणपनका प्रतिभास नहीं होता। अर्थात् एक मनुष्य जातिकी तरह ब्राह्मण कोई जाति नहीं है।'

"अनादौ काले तस्याध्यक्षेण प्रहीतुमशक्यत्वात्। प्रायेण प्रमदानां कामातुरतया इह जन्मन्यपि व्यभिचारोपलम्भात् कुतो योनिनिबन्धनो ब्राह्मण्यनिश्चयः? न च विप्लुतेतरपित्रपत्येषु वैलक्षण्यं लक्ष्यते। न खलु वडवायां गर्दभाश्व प्रभवापत्येष्विव ब्राह्मण्यां ब्राह्मणशूद्रप्रभवापत्येष्वपि वैलक्षण्यं लक्ष्यते क्रियाविलोपात्।"

"अनादिकालसे मातृकुल और पितृकुल शुद्ध हैं, इसका पता लगाना हमारी आपकी शक्तिके बाहर है। प्रायः स्त्रियां कामातुर होकर व्यभिचारके चक्करमें पड़ जाती हैं। फिर जन्मसे जातिका निश्चय कैसे होसकता है? व्यभिचारी माता पिताकी सन्तान और निर्दोष माता

'दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णाश्चतुर्थश्च विधोचितः ।
मनोवाक्कायधर्माय मताः सर्वेऽपि जन्तवः ॥' यश०—

पिताकी सन्तानमें फरक तो नजर नहीं आता। जिसप्रकार गधे और घोड़ेके सम्बन्धसे पैदा होनेवाली गधीकी सन्तान भिन्न २ तरहकी होती है, उस प्रकार ब्राह्मण और शूद्रके सम्बन्धसे पैदा होनेवाली ब्राह्मणीकी सन्तानमें अन्तर नहीं होता, क्योंकि अगर अन्तर होता तो संस्कारादि क्रियाओंकी क्या आवश्यकता थी ?"

"क्रियाविशेषादिनिबन्धन एव ब्राह्मणादिव्यवहारः।........... नापि संस्कारस्यास्य शूद्रबालके कर्तुं शक्तितस्तत्रापि तत्प्रसङ्गात्। किञ्च संस्कारात्प्राग्ब्राह्मणबालस्य तदस्ति न वा ? यदस्ति संस्कारकरणं वृथा। अथ नास्ति तथापि तद् वृथा, अब्राह्मणस्याप्यतो ब्राह्मण्यसम्भवे शूद्रबालकस्यापि तत्सम्भवः केन वार्येत ?"

"इसलिये कर्मसे ही ब्राह्मणादि व्यवहार मानना चाहिये।.... संस्कारमें भी जाति नहीं है क्योंकि संस्कार तो शूद्र बालकका भी किया जासकता है—उसमें संस्कार करानेकी योग्यता है। अच्छा, यह बताइये कि संस्कारके पहले ब्राह्मण बालक ब्राह्मण है या नहीं ? अगर है, तो संस्कार करना वृथा है। अगर नहीं है तो और भी वृथा है, क्योंकि जो ब्राह्मण नहीं है उसे संस्कारके द्वारा ब्राह्मण कैसे बना सकते हैं ? अब्राह्मण अगर सस्कारसे ब्राह्मण बन सके तो शूद्र बालकके संस्कारको कौन रोक सकता है ?" —प्रमेयकमलमार्तण्ड।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जैनधर्ममें मनुष्योंमें कोई मौलिक भेद नहीं माना है, जिसके आधारसे कोई ऊँच और नीच ही बना रहे; प्रत्युत जातिको कर्मानुसार मानकर प्रत्येक मनुष्यको आत्मोन्नति करने देनेका अवसर प्रदान किया है।

अर्थात्–"ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य–ये तीनों वर्ण (आमतौरपर) मुनिदीक्षाके योग्य हैं और चौथा शूद्र वर्ण विधिके द्वारा दीक्षाके योग्य है। (वास्तवमें) मन, वचन, कायसे किये जानेवाले धर्मका अनुष्ठान करनेके लिये सभी जीव अधिकारी हैं।" यही आचार्य और भी कहते हैं कि:—

'उच्चावचजनप्रायः समयोऽयं जिनेशिनां।
नैकस्मिन्पुरुषे तिष्ठेदेकस्तम्भ इवालयः॥–यशस्तिलके।'

अर्थात्–"जिनेन्द्रका यह धर्म प्रायः ऊँच और नीच दोनों ही प्रकारके मनुष्योंके आश्रित है। एक स्तंभके आधारपर जैसे मकान नहीं ठहरता, उसी प्रकार ऊँच-नीचमेंसे किसी एक ही प्रकारके मनुष्य समूहके आधारपर धर्म ठहरा हुआ नहीं है।" बात असलमें यह है कि संसारमें वे ही मनुष्य उच्च कहलाते हैं जिनका आचरण शुभ–प्रशंसनीय होता है। अब यदि उन अच्छे ऊंचे आदमियोंमें ही धर्म सीमित कर दिया जाय तो फिर निम्नकोटिके धर्म नियम बेकार हो जाते हैं। और उसपर धर्म प्रत्येक प्राणीकी स्वभावगत चीज होनेके कारण उससे वंचित भला कौन किया जासकता है? इसीलिये जैनाचार्य ऊंच नीच दोनों प्रकारके मनुष्योंके आश्रित धर्मको ठहराते हैं। क्योंकि दोनों ही प्रकारके मनुष्य अपने अच्छे-बुरे कर्मोंके अनुसार उच्च और नीच होजाते हैं। श्री अमितगति आचार्यके निम्नलिखित वचन इस कथनके पोषक हैं—

'शीलवन्तो गताः स्वर्गे नीचजातिभवा अपि।
कुलीना नरकं प्राप्ताः शीलसंयमनाशिनः॥'

अर्थात्—'जिन्हें नीच जातिमें उत्पन्न हुआ कहा जाता है वे शीलधर्मको धारण करके स्वर्ग गए हैं और जिनके लिये उच्च कुलीन होनेका मद किया जाता है, ऐसे दुराचारी मनुष्य नरक गये हैं।' सच है, गुण ही मनुष्यको बनाते और बिगाड़ते हैं। गुण ही मनुष्य जीवनकी दिव्य आभा है! शरीर-सौन्दर्य-जैसे किंशुकफूल और उच्च जातिका जन्म गुणबिन कुछ मूल्य नहीं रखते! इसीलिये श्री जिनसेनाचार्य 'आदिपुराण' में उस मनुष्यको ही 'द्विज' कहते हैं जो विशुद्धवृत्ति—आचारका धारी है। और उसकी गिनती किसी भी वर्ण-जातिमें नहीं करते!* गर्ज यह कि चारों ही वर्णके मनुष्य धर्म धारण करनेकी योग्यता रखते हैं!

श्वेताम्बरीय मान्यता।

श्वेताम्बर जैनाचार्य भी मनुष्यमात्रको धर्मका अधिकारी घोषित करते हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि जिनेन्द्रका धर्मोपदेश प्राणीमात्रके लिये होता था। मनुष्योंमें आर्य और अनार्य—द्विपद-चतुष्पद—दोनों ही उससे समानरूपमें लाभ उठाते थे—उन दोनोंको लक्ष्य करके

---

* 'विशुद्धवृत्तयस्तस्माज्जैना वर्णोत्तमा द्विजाः।
वर्णान्तःपातिनो नैते जगन्मान्या इति स्थितम् ॥२९॥१४२॥'

भावार्थ—'विशुद्ध वृत्तिवाले जैन ही सब वर्णोंमें उत्तम हैं—वे किसी वर्णमें शामिल नहीं हैं। और वे ही जगतमान्य द्विज हैं।' दूसरे शब्दोंमें यूं कहना चाहिये कि वर्ण जातिसे कोई मतलब नहीं, जिस किसी व्यक्तिकी वृत्ति विशुद्ध है वही जैन और जगन्मान्य द्विज है।'

ही जिनेन्द्रने धर्मोपदेश दिया था। जातिगत काल्पनिक हीनाधिकताके कारण कोई भी मनुष्य धर्माराधना करनेसे वंचित नहीं ठहराया गया है। जिसप्रकार एक तृणभक्षी अहिंसक हाथी और एक आमिषभक्षी क्रूर सिंह समानरूपमें धर्मपालन करते हुये शास्त्रोंमें मिलते हैं और दोनों ही आत्मोन्नति करके सर्वज्ञ तीर्थंकर होते हैं; वैसे ही सब ही प्रकारके मनुष्य—चाहे वे सदाचारी, उच्च, कुलीन हों अथवा दुराचारी, नीच, अकुलीन हों, धर्मका सेवन करकर अपना आत्मकल्याण कर सक्ते हैं। अपनी चीजको भोगनेका अधिकार चिरमिथ्यात्वकी लम्बी अवधिके कारण छीना नहीं जासक्ता और न जाति मर्यादाकी कल्पना उसे कष्ट कर सक्ती है; क्योंकि श्वेताम्बराचार्य भी जातिको जन्मसे—मौलिक न मानकर कर्मानुसार कल्पित कहते हैं। 'उत्तराध्ययन सूत्र' में कहा गया है:—

'कम्मुणा बम्भणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥२५॥'

अर्थात्—कर्मसे ब्राह्मण होता है, कर्मसे ही क्षत्री। वैश्य भी कर्मसे होता है और शूद्र भी कर्मसे। इसलिये जातिगत विशेषता कुछ नहीं है—विशेषता तो विशुद्धवृत्ति तपश्चरण आदिसे दृष्टि पड़ती है। ('सक्खं खु दीसइ तवो विसेसो, न दीसइ जाइविसेस कोई।'—उत्तराध्यन सूत्र।) इसलिये जातिका मद नहीं करना चाहिये।

१—भगवंचणं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ। सवियणं अद्धमागहीभासा भासिज्जमाणी तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं, दुप्पय, चउप्पय मियपसुपक्खिसरीसिवाणे अप्पप्पणोहिय सिवसुहदाय भासत्ताए परिणमइ। —समवायांग सूत्र।

जातिमद तो संसार और नीच गोत्रका कारण है।[1] 'ठाणांग सूत्र' में लिखा है कि:-

'न तस्स जाई व कुलं व ताणं, णण्णत्थ विज्जाचरणं सुचिन्नं।
णिक्खम्म से सेवइ गारिकम्मं, ण से पारए होइ विमोयणाए॥११॥'

अर्थात्-'सम्यग्ज्ञान और चारित्र विना अन्य कोई जाति व कुल शरणभूत नहीं है। जो कोई चारित्र अंगीकार करके जाति गोत्रादिकका मद करता है वह संसारका पारगामी नहीं होता है।' क्योंकि सिद्धिपद जाति और गोत्र रहित महान् उच्चपद है। (उच्चं अगोत्तं च गतिं उवेंति) इसलिये लोकमें कल्पित उच्च जाति या कुलका पालना मनुष्यके लिये शरण नहीं है।[2] शरण तो एक मात्र आत्मधर्म है।

चारित्रभ्रष्टका उद्धार संभव है।

अधिकांशतया जनतामें यह भ्रम फैला हुआ है कि जो मनुष्य सन्मार्गसे अधिक दूर भटककर भ्रष्ट होता है अथवा जो व्यक्ति पूर्व संचित अशुभोदयसे अपने मर्यादित पदसे पतित होजाता है, वह धर्म पालनेका अधिकारी नहीं रहता है। ऐसा चारित्रभ्रष्ट और समाज नियमोंको उल्लंघन करनेवाला मनुष्य जैन संघमें रखने योग्य नहीं माना जाता और उसे संघ या बिराद-

---

१-"जातिमदेणं कुलमदेणं बलमदेणं जाव इस्सणिमदेणं णीयगोयकम्मासरीरजावप्पओग बंधे"-भगवती सूत्र (हैदराबादका छपा) पृष्ठ १२०६।

२-खलु णातिसंजोगा णो ताणाए वा, णो सरणाए वा।"
—ठाणाङ्गसूत्र

रीसे बहिष्कृत कर दिया जाता है ! किन्तु यह प्रवृत्ति धर्ममर्यादासे सर्वथा प्रतिकूल है; क्योंकि पूर्वोक्त विवेचनसे यह स्पष्ट है कि धर्मकी आवश्यक्ता पतितोद्धारके लिये ही है और जैनधर्म वस्तुतः पतितोद्धारक है । जैनाचार्योंने स्पष्टतः चारित्रहीन मनुष्योंके उद्धारके लिये धर्मका विधान पद-पदपर किया है । उनका कहना है कि:—

"महापापप्रकर्ताऽपि प्राणी श्रीजैनधर्मतः ।
भवेत् त्रैलोक्यसंपूज्यो धर्मात्किं भो परं शुभम् ॥ "

अर्थात्-"घोर पापको करनेवाला प्राणी भी जैन धर्म धारण करनेसे त्रैलोक्य पूज्य होजाता है ! धर्मसे अधिक श्रेष्ठ और वस्तु है ही क्या ? चारित्रभ्रष्टको तो जैन धर्म सर्वथा भ्रष्ट नहीं बतलाता; क्योंकि यदि मनुष्यका श्रद्धान आत्मधर्ममें ठीक रहेगा तो वह एक दिन अवश्य अपनी गलती महसूस करके उसको सुधार लेगा ! इसी लिये श्री कुन्दकुन्दाचार्यजीका यह कथन सार्थक है:—

'दंसणभट्टा भट्टा, दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं ।
सिज्झंति चरियभट्टा, दंसणभट्टा ण सिज्झंति ॥ ३ ॥

अर्थात्—" दर्शन-सम्यक्त्वसे भ्रष्ट ही भ्रष्ट हैं । दर्शन भ्रष्टके लिये निर्वाण नहीं है । चारित्र भ्रष्ट सीझेंगे—सिद्ध होंगे ! दर्शनभ्रष्ट नहीं सीझेंगे—सिद्ध नहीं होंगे । "

जैनाचार्योंने एक सम्यक्त्वीका यह कर्तव्य ही निर्धारित किया है कि यदि कोई व्यक्ति अपने पदसे भ्रष्ट हुआ हो तो उसे पुनः उस पद पर स्थापित करे । ' पंचाध्यायी ' में यही कहा गया है:—

'सुस्थितीकरणं नाम परेषां सदनुग्रहात् ।
भ्रष्टानां स्वपदात्तत्र स्थापनं तत्पदे पुनः ॥८०३॥

अर्थात्–" दूसरों पर सत् अनुग्रह करना ही पर-स्थितिकरण है। वह अनुग्रह यही है कि जो अपने पदसे भ्रष्ट हो चुके हैं, उन्हें उसी पदमें फिर स्थापित कर देना। ' इस विषयमें श्री सोमदेवाचार्यका निम्न उपदेश खास ध्यान देने योग्य है:–

' नवैः संदिग्धनिर्वाहैर्विदध्याद् गणवर्धनम्।
एकदोषकृते त्याज्यः माप्ततत्वः कथं नरः॥
यतः समयकार्यार्थो नानापंचजनाश्रयः।
अतः संबोध्य यो यत्र योग्यस्तं तत्र योजयेत्॥
उपेक्षायां तु जायेत तत्वाद् दूरतरो नरः।
ततस्तस्य भवो दीर्घः समयोऽपि च हीयते॥'

अर्थात्–" ऐसे ऐसे नवीन मनुष्योंसे अपनी जातिकी समूह वृद्धि करनी चाहिये जो संदिग्ध निर्वाह है–यानी जिनके विषयमें यह सन्देह है कि वे जातिके आचार विचारका यथेष्ठ पालन कर सकेंगे। (और जब यह बात है तब) किसी एक दोषके कारण कोई नर जातिसे बहिष्कारके योग्य कैसे होसकता है? चूंकि जैन सिद्धान्ताचार विषयक धर्मकार्योंका प्रयोजन नाना पंचजनोंके आश्रित है–उनके सहयोगसे सिद्ध होता है। अतः समझाकर जो जिस कामके योग्य हो उसको उसमें लगाना चाहिये–जातिसे पृथक् न करना चाहिये। यदि किसी दोषके कारण एक व्यक्तिकी उपेक्षा की जाती है–उसे जातिमें रखनेकी परवाह न करके जातिसे पृथक् किया जाता है, तो उस अपेक्षासे वह मनुष्य तत्वके बहुत दूर जापड़ता है। तत्वसे दूर आपड़नेके कारण उसका संसार बढ़ जाता है और

धर्मकी भी क्षति होती है। अर्थात् समाजके साथ २ धर्मको भी भारी हानि उठानी पड़ती है। उसका यथेष्ट प्रचार और पालन नहीं हो पाता।" अतः पतित हुये मनुष्यको प्रायश्चित्त देकर पुनः धर्ममार्गमें लगाना श्रेष्ठ है। श्री जिनसेनाचार्यजी भी 'आदिपुराण' (पर्व ४० श्लोक १६८-१६९) में यही निरूपण करते हैं:—

"कुतश्चित्कारणाद्यस्य कुलं सम्प्राप्तदूषणं।
सोऽपि राजादिसम्मत्या शोधयेत्स्वं यदा कुलम् ॥ १६८॥
तदाऽस्योपनयार्हत्वं पुत्रपौत्रादिसन्ततौ।
न निषिद्धं हि दीक्षार्हे कुले चेदस्य पूर्वजाः ॥१६९॥"

भावार्थ—"किसी कारणसे किसी कुलमें दोष लगा होवे तो वह राजादिककी आज्ञासे अपना कुल शुद्ध करें तब उसके जिनदीक्षा ग्रहण करनेकी योग्यता आती है; क्योंकि उसका कुल दीक्षाके योग्य है। उसके पूर्वज साधु-मुनि हुए हैं। इसलिये जो बिगड़े वही सिरझे--कुलनिषेध नहीं है। इन अच्छे कुलोंमें कदाचित् कोई भ्रष्ट हुआ हो-श्रावकके आचारसे रहित हुआ हो-उसके पुत्रपौत्रादिमें कोई जिनदीक्षा धारण करे तो योग्य है।"

प्रायश्चित्त ग्रन्थोंका विधान।

पतितावस्थाकी अशुद्धिको मेटनेके लिये जैनसाहित्यमें प्रायश्चित्त ग्रंथोंकी रचना की गई है। उनमें मुनि हत्यारे जैसे महान पापीको भी शुद्ध करके—उसको विशेष रूपमें व्रत-उपवास आदि कराकर कृतपापका दोष निवारण करके उसके पूर्वपद (श्रावक या मुनिपद) पर स्थापित करने तकका विधान

मिलता है।[1] 'प्रायश्चित्त समुच्चय' नामक शास्त्रमें स्पष्ट लिखा है कि–

"आगाढकारणे कश्चिच्छेषाशुद्धोऽपि शुद्ध्यति"

अर्थात्–"देव, मनुष्य, तिर्यंच या अचेतनकृत उपसर्गवश या व्याधिवश दोष सेवन करलेनेपर, शेष असकृत्कारी असानुवीची और अयत्नसेवी पदोंकर अशुद्ध होते हुए भी कोई पुरुष शुद्ध होजाता है। भावार्थ–वह उस दोष योग्य लघु प्रायश्चित्तको ग्रहणकर शुद्ध होता है!" प्रायश्चितके विना चारित्रधर्मका यथाविधि पालन होना अशक्य है। इसीलिये कहा गया है कि:–

"प्रायश्चित्तेऽसति स्यान्न चारित्रं तद्विना पुनः।
न तीर्थं न विना तीर्थान्निर्वृत्तिस्तद् वृथा व्रतं॥ ५॥"
–प्रायश्चित्तसमुच्चय।

अर्थ–"प्रायश्चितके अभावमें चारित्र नहीं है। चारित्रके अभावमें धर्म नहीं है, और धर्मके अभावमें मोक्षकी प्राप्ति नहीं है। इसलिये व्रत धारण करना व्यर्थ है!" व्रतधर्मका ग्रहण करना तब ही सार्थक है जब कृत दोषोंके लिये प्रायश्चित्त लिये और दिये जानेकी व्यवस्था हो–पतितोद्धारकी विधिका निर्बाध पालन किया जाता हो। इसीलिये कहा गया है कि महान् पतित–नीचसे नीच कहा जानेवाला मनुष्य भी इसे धारण करके इसी लोकमें अति उच्च बन सकता है।[2]

१–प्रायश्चित्त समुच्चय, श्लोक १३९ (पृष्ठ २०६)

२–'यो लोके त्वानतः सोऽतिहीनोऽप्यतिगुरुर्यतः।
बालोऽपि त्वाश्रितं नौति को नो नीतिपुरुः कुतः॥८२॥'
–जिनशतके, समन्तभद्रः।

शूद्रादि भी धर्मका पालन कर सक्ते हैं।

कुछ लोगोंका खयाल है कि धर्मको ऊपरके तीन वर्ण-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ही धारण कर सक्ते हैं। शूद्र और चांडाल तथा म्लेच्छ उसको धारण करनेके अधिकारी नहीं हैं, किंतु उनकी यह मान्यता निराधार है। जैन धर्ममें जातिगत उच्चता-नीचताको कोई स्थान नहीं है, यह पहले ही लिखा जा चुका है। फिर भी उक्त विचारकी निस्सारता प्रकट करनेके लिये शूद्रादिको धर्माराधनाका स्पष्ट आज्ञाप्रधान करने-वाले शास्त्रोल्लेख हम यहां उपस्थित करते हैं। देखिये, 'नीति वाक्या-मृत' में श्री सोमदेवाचार्य लिखते हैं कि:—

"आचाराऽनवद्यत्वं शुचिरुपस्कारः शरीरशुद्धिश्च करोति शूद्रानपि देवद्विजातितपस्विपरिकर्मसु योग्यान्।।"

अर्थात्—"मद्य मांसादिकके त्यागरूप आचारकी निर्दोषता, गृह पात्रादिककी पवित्रता और नित्य स्नानादिके द्वारा शरीर शुद्धि—ये तीनों प्रवृत्तियां शूद्रोंको भी देव, द्विजाति और तपस्वियोंके परि-कर्मोंके योग्य बना देती है।" श्री पंडितप्रवर आशाधरजी इस विषयको और भी स्पष्ट करते हुए लिखते हैं:—

'शूद्रोऽप्युपस्कराचारवपुः शुद्ध्याऽस्तु तादृशः।
जात्या हीनोऽपि कालादिलब्धौ ह्यात्मास्ति धर्मभाक्॥२।२२॥

—सागारधर्मामृत।

अर्थात्—"आसन और वर्तन आदि उपकरण जिसके शुद्ध हो, मद्यमांसादिके त्यागसे जिसका आचरण पवित्र हो और नित्य

स्नानादिके द्वारा जिसका शरीर शुद्ध रहता हो, ऐसा शूद्र भी ब्राह्मणादिक वर्णोंके सदृश धर्मका पालन करनेके योग्य है; क्योंकि जातिसे हीन आत्मा भी कालादिक लब्धिको पाकर जैन धर्मका अधिकारी होता है।" इस प्रकार संघके स्वास्थ्यकी रक्षा और परिपूर्णताके लिये बाह्य शुद्धिका ध्यान रखकर शूद्रादिको धर्मपालनेका अधिकारी शास्त्रोंमें ठहराया गया है। वैसे शरीर-पूजाके लिये जैन धर्ममें कोई स्थान नहीं है—जैनत्व तो गुण-पूजाके आश्रय टिका हुआ है। इसलिये श्री समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि:—

"स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते।
निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सिता॥"

भावार्थ—"शरीर तो स्वभावसे अपवित्र है (उसमें पवित्रता देखना भूल है) उसकी पवित्रता तो रत्नत्रयसे अर्थात् सच्चे धर्मसे है। इस लिए किसी भी शरीरसे घृणा न करमें गुणमें—धर्ममें प्रेम रखना चाहिए, यह निर्विचिकित्सता है," जिसका पालन करना प्रत्येक जैनीके लिए अनिवार्य है।

शूद्रादि जातिके लोग भी यथाविधि जिनेन्द्र पूजन, शास्त्र-स्वाध्याय और दान देकर पुण्य संचय कर सक्ते हैं। श्री धर्मसंग्रह श्रावकचार'में लिखा है:—

'यजनं याजनं कर्माऽध्ययनाऽध्यापने तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चेति षट्कर्माणि द्विजन्मनाम्॥ २२५॥
यजनाऽध्ययने दानं परेषां त्रीणि ते पुनः।

अर्थात्—' ब्राह्मणके पूजन करना, पूजन कराना, पढ़ना, पढ़ाना,

दान देना और दान लेना, ये छह कर्म हैं। शेष क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-इन तीन वर्णोंके पूजन करना, पढ़ना और दान देना; ये तीन कर्म हैं ?' 'भावसंग्रह' 'पूजासार'[1] आदि अनेक ग्रन्थोंमें शूद्रोंके इन अधिकारोंका उल्लेख है। प्रत्युत 'सारत्रय' के टीकाकार श्री जयसेनाचार्य तो सच्छूद्रको मुनि दीक्षाका भी अधिकारी बतलाते हैं।[2] श्वेतांबरीय शास्त्रोंमें चाण्डाल और म्लेच्छों तकको मुनि होने देनेका विधान है।[3] दिगम्बर शास्त्र भी म्लेच्छोंकी कुल शुद्धि करके उन्हें अपनेमें मिला लेने तथा मुनिदीक्षा आदिके द्वारा ऊपर उठानेकी आज्ञा देते हैं। महान् सिद्धांत ग्रंथ "जयधवल" में यह उल्लेख निम्नप्रकार है:—

"जइ एवं कुदो तत्थ संजमग्गहणसंभवोत्ति णा संकणिज्जं। दिसाविजयपयट्टचक्कवट्टिखंधावारेण सह मज्झिमखण्डमागयाणं मिलेच्छराण्याणं तत्थ चक्कवट्टि आदिहिं सह जादवेवाहियसम्बन्धाणं संजमपडिवत्तीए विरोहाभावादो ॥ अहवा तत्तत्कन्यकानां चक्रवर्त्यादि परिणीतानां गर्भेषूत्पन्ना मातृपक्षापेक्षया स्वयमकर्मभूमिजा इतीह विवक्षिताः ततो न किंचिद्विप्रतिषिद्धं। तथाजातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावादिति!"—जयधवल, आराकी प्रति पृ० ८२७-८२८।

१-भावसंग्रह (............) पूजासार (श्लो० १७-१८)

२-'एवंगुणविशिष्टपुरुषो जिनदीक्षाग्रहणयोग्यो भवति। यथायोग्यं सच्छूद्राद्यपि'-प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, पृ० ३०९।

३-'सक्खं खु दीसइ तवो विसेसो, न दीसइ जाइ विसेसकोई।
सोवागपुत्तं हरिएससाहुं जस्सेरिसा इड्ढि महाणुभागा ॥१२॥
—उत्तराध्ययन सूत्र'

म्लेच्छों–अनार्योंकी दीक्षायोग्यता, सकल संयम ग्रहणकी पात्रता और उनके साथ वैवाहिक संबंध आदिका ऐसा ही विधान संभवतः 'जयधवलके आधारसे ही 'लब्धिसार टीका' (गाथा १९३) में इस प्रकार है:—

'म्लेच्छभूमिजमनुष्याणां सकलसंयमग्रहणं कथं भवतीति नाशंकितव्यं । दिग्विजयकाले चक्रवर्तिना सह आर्यखण्डमागतानां चक्रवर्त्यादिभिः सह जातवैवाहिकसंबंधानां संयमप्रतिपत्तेरविरोधात् । अथवा चक्रवर्त्यादिपरिणीतानां गर्भेपूत्पन्नस्य मातृपक्षापेक्षया म्लेच्छव्यपदेशभाजः संयमसंभवात् । तथाजातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावात् ॥'

अर्थात्–" कोई यों कह सक्ता है कि म्लेच्छभूमिज मनुष्य मुनि कैसे होसक्ते हैं ? किन्तु यह शंका ठीक नहीं है । क्योंकि दिग्विजयके समय चक्रवर्तीके साथ आर्यखंडमें आए हुए म्लेच्छ राजाओंको संयमकी प्राप्तिमें कोई विरोध नहीं होसक्ता । तात्पर्य यह है कि वे म्लेच्छभूमिसे आर्यखण्डमें आकर चक्रवर्ती आदिसे संबंधित होकर मुनि बन सक्ते हैं । दूसरी बात यह है कि चक्रवर्तीके द्वारा विवाही गई म्लेच्छकी कन्यासे उत्पन्न हुई संतान माताकी अपेक्षासे म्लेच्छ कही जासक्ती है और उसके मुनि होनेमें किसी भी प्रकारसे कोई निषेध नहीं होसक्ता ।"

जैनधर्ममें गुण ही देखे जाते हैं–गुणोंके सामने हीन जाति और अस्पृश्यता न कुछ है। यही कारण है कि धर्मको धारण करके कुत्ता देव होसकता और पापके कारण देव कुत्ता होसकता । जैना-

चार्य बताते हैं। (श्वाऽपि देवोऽपि देवः श्वा जायते धर्मकिल्बिषात्) इसीलिये ऊंची मानी जानेवाली जातियोंके मनुष्योंको चेतावनी देते हुये आचार्य कहते हैं:—

'चाण्डालोऽपि व्रतोपेतः पूजितः देवतादिभिः।
तस्मादन्यैर्न विप्राद्यैर्जातिगर्वो विधीयते ॥ ३० ॥'

अर्थात्-'व्रतोंसे युक्त चाण्डाल भी देवों द्वारा पूजा गया है। इसलिये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंको अपनी जातिका गर्व नहीं करना चाहिये।'

किन्हींका ऐसा भी भ्रम है कि लोकमें जातिगत उच्चता और
नीचता जीवके पूर्व संचित उच्च और नीच-
गोत्र कर्मका संक्रमण गोत्र कर्मके कारण है। इसलिये नीच गोत्रके
होता है। उदयमें रहनेके कारण नीच लोग धर्मधारण-
करनेकी पात्रता नहीं रखते। किन्तु यहां
वह भूलते हैं। जैन सिद्धांतमें गोत्र कर्मका जो स्वरूप माना गया है, उससे यह बात बनती ही नहीं। देखिये, श्री अकलंकदेवजी 'राजवार्तिक' में ऊंच नीच गोत्रकी व्याख्या निम्नप्रकार करते हैं:—

यस्योदयात् लोकपूजितेषु कुलेषु जन्म तदुच्चैर्गोत्रम्। गर्हितेषु यत्कृतं तन्नीचैर्गोत्रम् ॥

गर्हितेषु दरिद्राऽप्रतिज्ञातदुःखाः कुलेषु यत्कृतं प्राणिनां जन्म तन्नीचैर्गोत्रं प्रयेतव्यम्।

इससे प्रगट है कि जो जीव पूजित-प्रतिष्ठित कुलोंमें जन्म

लेते हैं वे उच्च गोत्री हैं और जो गर्हित अर्थात् दुःखी दरिद्री कुलमें उत्पन्न होते हैं, वे नीच गोत्री हैं। इस व्याख्यामें जातिके लिये कोई स्थान नहीं है! क्योंकि लोक प्रचलित ऊंच नीचपन आचरणकी श्रेष्ठता और हीनतापर अवलंबित है। ब्राह्मण होकर भी कोई निंद्य आचरणवाला, दीन दुःखी हो सकता है और एक शूद्र इसके प्रतिकूल प्रशस्त आचरणवाला सुखी देखनेको मिलता है।

इसलिये ब्राह्मण होते हुए भी पहला नीच गोत्री और दूसरा शूद्र होनेपर भी उच्च गोत्री है। इसके अतिरिक्त यह बात भी नहीं है कि एक जीवके जन्मपर्यंत एक उच्च या नीच गोत्र कर्मका ही उदय रहे; बल्कि गोमट्टसार (कर्मकाण्ड ४२२।४२३) से स्पष्ट है कि गोत्र कर्ममें संक्रमण होता है अर्थात् नीच गोत्र कर्म उच्च गोत्र कर्मके रूपमें पलट जाता है। इसलिये गोत्रकर्मके कारण किसी जीवको-चाहे वह जातिसे कितना ही गर्हित क्यों न हो, धर्म धारण करनेसे वञ्चित नहीं किया जासकता।

स्व० पं० गोपालदासजीका अभिमत।

वर्तमानकालके प्रसिद्ध जैन-पंडित और तत्वज्ञानी स्याद्वाद-वारिधि, वादिगजकेशरी स्व० श्री० पं० गोपालदासजी बरैया भी उक्त प्रकार शूद्र और म्लेच्छों तकको धर्मका पालन करनेके योग्य ठहराते हैं। देखिये, वह लिखते हैं कि "ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य-इन तीनों वर्णोंके वनस्पतिभोजी आर्य मुनिधर्म तथा मोक्षके अधिकारी हैं। म्लेच्छ और

शूद्र नहीं हैं (अर्थात् वे एकदम साधु नहीं होसक्ते) परन्तु म्लेच्छों और शूद्रोंके लिए भी सर्वथा मार्ग बन्द नहीं है: क्योंकि त्रस जीवोंकी संकल्पी हिंसासे आजीविकाका त्याग करके कुछ कालमें म्लेच्छ आर्य होसकता है और शूद्रकी आजीविकाके परिवर्तनसे शूद्र द्विज होसकता है....ब्राह्मणसे लेकर चाण्डाल और म्लेच्छतक अव्रत सम्यग्दृष्टि रूप चतुर्थ गुणस्थानके धारक (जैनी गृहस्थ) होसकते हैं। मांसोपजीवी म्लेच्छ अपनी वृत्तिका परित्याग करके जिस वर्णकी आजीविका करेंगे, कुछ कालके पश्चात उस ही वर्णके आर्य होजावेंगे।" (जैन हितैषी भा० ७ अंक ६) अस्तु;

भारतीय साहित्य जैनधर्मको पतितोद्धारक प्रगट करते हैं।

अब हम पाठकोंके सम्मुख ब्राह्मण और बौद्धोंके प्राचीन जैन साहित्यसे ऐसे उल्लेख उपस्थित करते हैं, जिनसे जैन संघकी उपर्युल्लिखित उदारताका पोषण होता है। यदि प्रो० ए० चक्रवर्तीके मतानुसार वैदिक साहित्यके 'व्रात्यों' को जैनी माना जाय, तो 'अथर्ववेद'के वर्णनसे स्पष्ट है कि प्राचीन कालमें जैन धर्मके अनुयायी हीन जातियोंके लोग भी होते थे।[1] हिन्दू 'पद्मपुराण' से भी यही प्रगट होता है। उसके 'भूमिखण्ड' (अ० ६६) में दिगम्बर जैन मुनिके द्वारा धर्मके स्वरूपका विवेचन कराते हुये यह भी कहलाया है कि:—

१—अंग्रेजी जनगजट, भा० २१ पृ० १६१ व "भ० पार्श्वनाथ" की प्रस्तावना।

"दयादानपरो नित्यं जीवमेव प्ररक्षयेत् ।
चाण्डालो वा स शूद्रो वा स वै ब्राह्मण उच्यते ॥"

भावार्थ—"दयादानमें सदा तत्पर हो जीव मात्रकी रक्षा करनेवाला, चाहे वह चाण्डाल हो या शूद्र, वही जैन संघमें ब्राह्मण कहा गया है।" अर्थात् धर्मवृत्ति संयुक्त चाण्डाल और शूद्र भी उस समय जैनी होते थे। इसी तरह 'पञ्चतन्त्र' के मणिभद्र सेठवाले आख्यानसे प्रगट है कि एक नाईके यहां दिगम्बर जैनमुनि आहारके निमित्त पंहुंचे थे।[1] संभवतः नाई भोज्य शूद्रोंमें गिने गये हैं और पूर्व स्थापित शास्त्रीय मतानुसार उनके यहां जैन साधुओंका आहार लेना असङ्गत नहीं प्रतीत होगा।

बौद्धोंके 'मज्झिमनिकाय' (१—२—४)के 'दुःखक्खन्ध—सुत्त' में गौतम बुद्ध एक स्थल पर कहते हैं "निगंठो! जो लोकमें रुद्र (=भयंकर) खून-रंगे-हाथवाले, क्रूर—कर्मा, मनुष्योंमें नीच जातिवाले हैं वह निगंठोंमें साधु बनते हैं।" 'थेरीगाथा'में पति—हत्याकरनेवाली कुन्दलकेशाको जन संघमें आर्यिकाकी दीक्षा लेकर केशलोंचन करते लिखा है।[2] 'मिलिन्द पण्ह' में वर्णन है कि पांचसौ योद्धा (यूनानी) भगवान महावीरकी शरणमें पहुंचे थे।[3] इन उल्लेखोंसे भी जैन धर्ममें उच्च-नीच सब ही प्रकारके मनुष्योंको स्थान मिलनेकी बातका समर्थन होता है।

१—पञ्चतत्र (निर्णयसागर प्रेसावृत्ति १९०२) तंत्र ५।
२—सांग्स ऑव० दी सिष्टर्स, पृ० ६३।
३—मिलिन्दपण्ह S. B. E. Vol. XXXV पृ० ८।

ऐतिहासिक उल्लेख भी ऐसे अनेक मिलते हैं जो उपरोक्त व्याख्याकी पुष्टिमें अकाट्य प्रमाण हैं।

जैनधर्मको पतितोद्धारक बतानेवाले ऐतिहासिक प्रमाण।

पत्थर और तांबे पर उकेरे हुये शब्द--सो भी करीब दो हजार वर्ष पहलेके, जैन धर्मकी उदारताको पुकार पुकार कर कह रहे हैं। सिकन्दर महान्‌को तक्ष--शिलाके पास कई दिगम्बर मुनि मिले थे। अपने दूत ओनेसिक्रिटस (Onesicritus) को सिकन्दरने उनके पास हाल--चाल लेने भेजा था। यूनानी इतिहासवेत्ता प्लूटार्क (Plutarch) कहता है कि दिगम्बर मुनि कल्याणने उससे दिगम्बर होनेके लिये कहा था।[1] मुनि कल्याण सिकन्दरके साथ ईरान तक गये थे। अथेन्सनगर (यूनान) के एक लेखसे प्रगट है कि वहां पर एक श्रमणाचार्यका समाधि स्थान था, जो भृगुकच्छसे वहां पहुंचे थे।[2] उन्होंने यूना--नियोंको अवश्य ही जैन धर्ममें दीक्षित किया प्रतीत होता है। दक्षिण भारतमें कुरुम्ब लोग शिकारी और मांसभक्षी असभ्य मनुष्य थे, जैनाचार्यने उन्हें जैनी बनाकर सभ्य कर दिया। आखिर वह जैन धर्मके कट्टर रक्षक हुये और धर्मरक्षाके भावसे शैवोंसे उन्होंने कईवार लड़ाईयां लड़ीं।[3] यदि इन असभ्योंसे जैनाचार्य घृणा करते तो उनके द्वारा जैन धर्मका उत्कर्ष कैसे होता? शक जातिके शासक

१--जर्नल ऑव दी रॉयल ऐशियाटिक सोसायटी, भा० ९ पृ० २३२ व स्ट्रैबो, ऐन्शियेन्ट इंडिया पृ० १६७। २--इंडियन हिस्टॉरीकल कार्टर्ली, भा० २ पृ० २९३। ३--ऑरीजिनल इन्हैबीटेन्ट्स ऑफ भारतवर्ष पृ० ९३।

छत्रप, नहपान और रुद्रसिंह भी जैन धर्ममें दीक्षित किये गये थे।[१] एक समय अरब, ईरान, अफगानिस्तान आदि देशोंमें दि० जैन मुनियोंका विहार होता था। और वहांके यवनादि जातिके मनुष्य जैनी थे।[२] श्रवणबेलगोलके स्व० पण्डिताचार्यजीने दक्षिणके जैनियोंमें कितनोंहीको अरब देशसे आया हुआ बताया था।[३] यह तो हुये थोड़ेसे ऐतिहासिक उदाहरण।

अब जरा शिलालेखीय साक्षीको भी दृष्टिगत कीजिये। मथुराके कंकालीटीलासे प्राप्त कुशनकाल-आजसे लगभग दो हजार वर्ष पहले-के जैन पुरातत्वसे प्रकट है कि वहांकी अनेक मूर्तियां नीच जातिके लोगोंने निर्माण कराई थीं। नर्तकी शिवयशा द्वारा निर्मित आयागपट पर जैनस्तूप बना है और लेख है कि:—

"नमो अर्हतानं फगुयशस नतकस भयाये शिवयशा....इ.... आ....आ....काये आयागपटो कारितो अरहत पूजाये।"

अनुवाद—"अर्हतोंको नमस्कार! नर्तक फगुयशा (फल्गुयशस) की स्त्री शिवयशाने........अर्हतोंकी पूजाके लिये आयागपट बनवाया।" (प्लेट नं० १२)

मथुराके होली दरवाजेसे मिले हुये स्तूपवाले आयागपट पर एक प्राकृत भाषाका लेख निम्न प्रकार है:—

"नमो अर्हतो वर्धमानस आराये गणिकायं लोणशोभिकाये धितु शमण साविकाये नादाये गणिकाये वसु (ये) आर्हतो देविकुल,

---

१-संक्षिप्त जैन इतिहास, भा० २ खंड २ पृ० १९-२१। २-जैन होस्टल मैगजीन। ३-ऐशियाटिक रिसर्चेज, भ० ३ पृ० ६।

आयागसमा, प्रपाशिल (ा) प (टो) पतिस्ट (ा) पितो निगंथानं अर्ह (ता) यतने स (हा) म (ा) तरे भगिनिये धितरे पुत्रेण सर्वेन च परिजनेन अर्हत् पूजाये।"

अनुवाद—"अर्हत् वर्द्धमानको नमस्कार! श्रमणोंकी श्राविका आरायगणिका लोणशोभिका (लवणशोभिका) की पुत्री नादाय (नन्दायाः) गणिका वसुने अपनी माता, पुत्री, पुत्र और अपने सर्व कुटुम्ब सहित अर्हत्का एक मंदिर, एक आयाग सभा, ताल (और) एक शिला निर्ग्रंथ अर्हतोंके पवित्र स्थान पर बनवाये।"

उपरोक्त दोनों शिलालेखोंसे 'नटी' और 'वेश्याओं' का जैन धर्ममें गाढ़ श्रद्धान और भक्ति प्रगट होती है। वे एक भक्तवत्सल जैनीकी भांति जिन मंदिरादि बनवातीं मिलतीं हैं। मथुरा जैन पुरातत्वकी दो जिन मूर्तियोंसे प्रकट है कि ईस्वी० पूर्व सन् ३ में एक रंगरेजकी स्त्रीने[1] और सन् २६ ई०में गंधी व्यासकी स्त्री जिनदासीने अर्हत् भगवानकी मूर्तियां बनवांई थीं।[2]

श्रवणवेलगोलके एक शिलालेखमें एक सुनारने समाधि मरण करनेका उल्लेख है।[3] वहींके एक अन्य शिलालेखमें आर्यिका श्रीमती और उनकी शिष्या मानकव्वेका वर्णन है। शिलालेखमें दोनों नामोंके साथ 'गण्ति' (Ganti) शब्द आया; जिससे प्रो० एस० आर० शर्मा इन आर्यिकाओंको 'गाणिग' अर्थात् तेली जातिकी बताते हैं। विजयनगरमें एक तेलिनका बनवाया हुआ जिनमंदिर "गाणगित्ति

१—इपीग्रेफिया इंडिका, १।३८४। २—जर्नल ऑव दी रॉयल ऐशियाटिक सोसायटी भा०९ पृ०१८४। ३—मद्रास–मैसूरके प्राचीन जैन स्मारक।

जिन भवन" नामसे प्रसिद्ध है। चालुक्य वंशी राजा अम्म द्वितीयके कलचुम्बाके दानपत्रसे पता चलता है कि चामेक वेश्या जैन धर्मकी परम उपासिका थी। दानपत्रमें उसे राजाकी अनन्यतम प्रियतमा और वेश्याओंके मुखसरोजोंके लिये सूर्य तथा जैन सिद्धांत-सागरको पूर्ण प्रवाहित करनेके लिये चन्द्रमा समान लिखा है। वह बड़ी विदुषी भी थी। सर्वलोकाश्रय जिनभवनके लिये उसने मूल-संघके अट्टकलि गच्छीय मुनि अर्हनन्दिको दान दिया था, जिससे उसकी खूब प्रशंसा हुई थी।[1] ये ऐतिहासिक उदाहरण जैन धर्मको स्पष्टतया पतितोद्धारक घोषित करते हैं।

उपसंहार। जैनधर्मका पालन प्रत्येक देश, प्रत्येक जाति और प्रत्येक परिस्थितिका मनुष्य कर सकता है। चाहे कोई आर्य हो या अनार्य, सदाचारी हो या दुराचारी, पुण्यात्मा हो या पापात्मा—वह इस धर्मका पालन कर अपनेको जगत् पूज्य बना सक्ता है। लोक-मान्य मर्यादाके नाश होनेका भय यहांपर वृथा है; क्योंकि लोक मर्यादा—खानपानादिकी छुआछूतका विधान धर्मके आश्रित है। और जब धर्मका पालनेवाला हर कोई होगा तो वह प्राकृत सङ्गत है कि लोकमर्यादाकी भी अभिवृद्धि हो—खान-पान, असन-वसन आदिकी शुद्धि होना तब अनिवार्य होगा। जैन धर्मको धारण करके अनेक पतित जीव गतकालमें अपना आत्मोत्कर्ष कर चुके हैं उनकी कुछ कथायें आगे दीजाती हैं:—

१—इपीग्रेफिया इंडिका, भा० ७ पृ० १८२।

चाण्डाल-धर्मात्मा।

" न जातिर्गर्हिता काचिद् गुणाः कल्याणकारणं।
व्रतस्थमपि चाण्डालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥"
—श्री रविषेणाचार्यः

कथायें:—

१. यमपाल चाण्डाल।
२. शहीद चण्ड चाण्डाल।
३. चाण्डाली दुर्गन्धा।
४. हरिकेस बल।

यमपाल चाण्डाल।*

(१)

पोदनपुरके बाहर चाण्डालोंकी पल्ली थी। उन चाण्डालोंके सरदारका नाम यमपाल था। यमपाल अपनी कुल परम्परीण आजीविकामें निष्णात था। वह बिना किसी झिझक और सोच विचारके सैकड़ों आदमियोंको तलवारके घाट उतार चुका था। यह उसका धंधा था और इस धंधेमें वह जलप्रवाहकी तरह बहा चला जा रहा था। उसने कभी क्षणभरको यह न सोचा कि वह महापाप कर रहा था। सचमुच वह महा पापी था। उसके हाथ ही नहीं हृदय भी खूनसे रंगा हुआ पूरा हिंस्र था। मनुष्योंको मारकर वह अपनी आजीविका चलाता था। आह! कितनी भीषणता? यह उसे पता न था।

जीवन क्षणिक है—बिजलीकी चमक है। इस सत्यकी ओर यमपालका ध्यान कभी न गया! और न उसने यह कभी सोचा कि जितना उसे अपना जीवन प्यारा है उतना ही प्रत्येक प्राणीको भी वह प्यारा है। कच्चे धागेसे बँधी हुई यमकी तलवार उसके सिरपर लटक रही है, यह उसने कभी न देखा। कोई दिखाता तो भी शायद वह न देख पाता! किन्तु प्रकृतिको उसकी इस दशा पर दया आ गई—वह उसके साथ एक नटखटी कर बैठी।

---

* 'आराधना कथाकोष' तथा 'रत्नकरण्ड श्रा०' संस्कृत टीकामें वर्णित कथाके आधारसे।

यमपाल कहीं बाहर गया था । रास्ताकी थकान उतारनेके लिये वह एक पेड़ तले जरा पड़ रहा । उसने पांव सीधे किये ही थे कि उसे एक जोरकी फुसकार सुनाई दी। वह झटसे उठा तो सही पर यमका घातक वार उस पर हो चुका था । पेड़की जड़में रहनेवाले काले नागने उसे डंस लिया था ।

वेचारा यमपाल हक्का-बक्का हो-प्राण लेकर सीधा घरकी ओरको भागा । भागते हुये उसे एक ऋद्धिधारी जैन मुनि दिखाई दिये । यमपालके पैर लड़खड़ा रहे थे । दयाकी मूर्तिस्वरूप उन साधुको पाकर वह उनके चरणोंमें जा गिरा । साधुको उसकी दशा समझनेमें देर न लगी। वे एक बड़े योगी थे और उनकी योगनिष्ठासे यमपालका सर्पविष दूर हो गया ! वह ऐसे उठा मानो सोते-से जाग गया हो । किन्तु साधु महाराजको देखकर उसे आपबीती सब याद आ गई । वह गद्गद होकर उनकी चरणरजसे अपनेको पवित्र बनाने लगा । उसने जाना-यही तो उसके जीवनदाता हैं ।

साधु अपना और पराया उपकार करना जानते हैं। उन साधु महाराजने यमपालको जीवनदान ही नहीं दिया बल्कि उसके जीवनको उन्होंने सुधार दिया । वह बोले-'वत्स ! तुम कौन हो ? क्या करते हो ?' यमपालने सीधेसे अपना हिंस्ररूप उन साधु महाराज पर प्रकट कर दिया । उस पर साधु बोले-' अच्छा वत्स ! बताओ, क्या तुम्हें मरना प्रिय था ? '

चाण्डाल बोला-'नहीं, महाराज !' साधुने फिर कहा-'यदि यही बात है यमपाल, तो जरा सोचो, दूसरेको मारनेका तुम्हें

क्या अधिकार है? क्या दूसरेको अपना जीवन प्यारा नहीं है?"

यमपाल निरुत्तर था। उसके हृदयमें विवेकने उथल-पुथल मचा दी थी। अब उसे होश आया था अपने भीषण कर्मका! वह एकवार फिर साधु महाराजके चरणोंमें आगिरा और अपने नेत्रोंसे जलकी नदी बहाने लगा। साधुने उसे ढाढस बंधाया और मनुष्य कर्तव्यका उसे बोध कराया।

यमपालने अपने कियेका परिशोध कर डालना निश्चित किया। वह बेचारा चाहता तो यह था कि मैं अब कभी किसीके प्राण न लूं, परन्तु राज आज्ञाके सन्मुख वह लाचार था। प्राचीनकालमें यह नियम था कि कोई भी मनुष्य अपनी आजीविका-वृत्ति विना राजाकी आज्ञाके बदल नहीं सकता था। यमपाल बेचारा चांडाल! कौन उसे राजासे आज्ञा प्राप्त कराये और कैसे वह अपनी आजीविका बदले! अपनी इस असमर्थताको देखकर उसने पर्व दिनोंपर हिंसा न करनेकी प्रतिज्ञा लेकर सन्तोषकी सांस ली।

साधु महाराजके पैर पूजे और उनसे विदाले यमपाल खुशी खुशी अपने घर गया। घरके लोगोंको उसने यह सारी घटना कह सुनाई! वे सब ही सुनकर बड़े प्रसन्न हुए और साधु महाराजके उपकारने उनके हृदयोंमें क्रांति मचा दी। उनमेंसे भी किसी किसीने यमपालके समान अहिंसा व्रतको ग्रहण किया। प्रकृतिकी जरासी नटखटीने उनके जीवन बदल दिये। धर्मका बीज उनके हृदयमें बो दिया! अब वह जीवनका ठीक मूल्य आंकनेमें समर्थ हुये, उनके हृदय शुद्ध होगये।

(२)

पोदनपुरके राजदरबारमें भीड़ लगी थी। मानव मेदनी महान थी वहां! आज और किसीका नहीं बल्कि स्वयं राजाके इकलौते बेटे और सो भी युवराजके अपराधका न्याय किया जानेवाला था। न्यायाधीश थे स्वयं पोदनपुरके नरेश महाबल! राजाने पूछा—"राजकुमार! तुमपर जो अपराध लगाया गया है, उसके विषयमें क्या कहते हो?" राजकुमार चुप था। इस चुप्पीने राजा महाबलकी क्रोधाग्निमें घीका काम किया। वह कड़क कर बोले कि—"चुप क्यों हो? बोलते क्यों नहीं? क्या तुमको मालूम नहीं था कि अष्टाह्निका पर्वमें हिंसा न करनेकी राजाज्ञा हुई थी?"

राजकुमार लड़खड़ाते हुए बोला—"महाराज! मालूम थी।"

राजा०—"मालूम थी! फिर भी तुमने हिंसा की! राजाज्ञाका उल्लंघन किया।"

राजकुमारका सिर अनायास हिल गया! अपने इकलौते बेटे और राज्यके उत्तराधिकारीके इस तरह अपराध स्वीकार करनेपर भी राजा महाबलका हृदय द्रवित न हुआ। उन्होंने राजकुमारको प्राणदण्डकी आज्ञा दे दी! एक पशुके प्राणोंके बदलेमें एक युवराजके प्राण! सोना और मिट्टी जैसा अन्तर था उनमें। किन्तु एक पदार्थ-विज्ञानीके निकट सोना और मिट्टी एक ही खनिज पदार्थ हैं—दोनों ही मिट्टी हैं। संस्कारित होने पर उनके मूल्यमें भले ही अन्तर पड़े। इसी तरह जीवात्मा—मनुष्य और तिर्यञ्च—सबका एक समान है। कर्म संस्कारके वशवर्ती हो—प्राणोंकी हीनाधिकताके कारण

उनके महत्वमें कमीवेशी होना दूसरी बात है। राजाको सब ही प्रकारके जीवोंके अधिकारोंकी रक्षा करना इष्ट था और सुखी जीवन विताना यह तो संसारमें प्रत्येक जीवका जन्मसुलभ प्रमुख अधिकार है। साम्यभाव इसीका नाम है। राजाने इसीलिये एक पशुके प्राणोंके घातका दंड युवराजके प्राण लेकर चुकाया। आह! कितना महान् त्याग था उनका! इकलौते बेटेको कर्तव्यकी बलिवेदी पर उत्सर्ग कर देनेका सत्साहस दर्शाकर न्याय और साम्यवादकी रक्षाके लिये सच्चे राजत्वका आदर्श उन्होंने उपस्थित किया। धन्य थे राजा महाबल!

(३)

आर्य जगतमें प्रत्येक मासकी अष्टमी और चतुर्दशी पवित्र तिथियां मानी गई हैं। अज्ञात कालसे धर्मात्मा सज्जनवृन्द इन तिथियोंके दिन विशेषरूपमें धार्मिक अनुष्ठान करते आये हैं; जिसके कारण यह तिथियां धर्मसे खासी संस्कारित हुई हैं। यही इनके पुण्यरूप होनेका रहस्य है। अच्छा, तो उस दिन भी चतुर्दशी थी जिस दिन पोदनपुरके राजकुमार शूली पर चढ़ाये जानेको थे। निर्दयी यम उनके सामने खड़ा मुस्करा रहा था; परन्तु साथ ही उसके क्रूर नेत्र यमपाल पर भी पड़ रहे थे। यमपालके सामने भी जीवन-मरणका प्रश्न उपस्थित था। चतुर्दशीका पवित्र दिन-यमपाल अहिंसाव्रती-वह हत्या कैसे करे? यदि वह राजकुमारको शूलीपर चढ़ाये तो उसका व्रत भङ्ग हुआ जाता है और यदि व्रतकी रक्षा वह करे तो राजाकी कोपाग्निमें उसे सशरीर भस्म होना पड़ेगा! बेचारा यम-

पाल बड़ी द्विविधामें पड़ा था। आखिर उसे एक युक्ति सूझ गई। 'सांप मरे और न लाठी टूटे' की बातको चरितार्थ करना उसे ठीक जंचा। क्योंकि न तो वह आत्मवञ्चना करके व्रतभङ्ग कर सक्ता था और न अपनेको खोकर कुटुम्बको अनाथ बना सकता था। यमपालके जीमें जी आया—उसने सन्तोषकी सांस ली ही थी कि बाहरसे आवाज आई—" यमपाल !"

आवाज सुनते ही यमपालने कानोंपर हाथ रख लिये। वह अपनी झोंपड़ीके पिछले कोनेमें जा छिपा। पर छिपनेके पहले अपनी पत्नीके कानमें न जाने क्या मंत्र फूंक गया। इतनेमें दरवाजेसे फिर आवाज आई ! 'यमपाल ! ओरे, यमपाल !' यमपालकी स्त्रीने देखा कि राजाके सिपाही खड़े हैं। उसने धीरेसे कहा—' वे आज बाहिर गांव गये हैं।'

यह सुनकर सिपाही बोला—' तुम लोग हो ही अभागे ! जन्मभर आदमियोंकी हत्या करते बीता, फिर भी रहे रोटियोंको मुहताज ! देखती है री ! आज यमपालको तू रोक रखती तो माला-माल होजाती—आज राजकुमार शूलीपर चढ़ाये जांयगे और उनके लाखों रुपयेके मूल्यवाले वस्त्राभूषण हत्यारेको मिलेंगे। पर कम्बख्त ! तेरा आदमी जाने कहां जा मरा !'

लाखों रुपयोंके मिलनेकी बातने चाण्डालीको विह्वल कर दिया, वह लोभको संवरण न कर सकी। चुपकेसे उसने झोंपड़ीकी ओर इशारा कर दिया। राजाके सिपाहियोंने यमपालको ढूंढ़ निकाला और वे उसे मारते-पीटते राजदरबार लेगये।

यमपाल तो पहलेसे ही अपने व्रतपर दृढ़ था। कुटुम्बमोह उसे किंचित् शिथिल बना रहा था। किन्तु पत्नीके विश्वासघातने अब उसकी वह शिथिलता भी दूर करदी। वह निश्चय लेकर राजाके सम्मुख जा डटा। अब वह अभय था। अहिंसाधर्म उसके रोम रोममें समा रहा था। सिपाहियोंने राजासे कहा—

'सरकार! यमपाल राजाज्ञाके अनुसार आज किसीको भी प्राणदण्ड देनेसे इनकार करनेकी धृष्टता कर रहा है।'

"हैं! उसकी इतनी हिम्मत! यमपाल! तू राजाज्ञाका उल्लंघन करनेका दुःसाहस करता है? क्यों नहीं अपराधीको शूलीपर चढ़ाता?'—राजाने कड़क कर कहा।

यमपाल बोला—'सरकार अन्नदाता हैं—सरकारका नमक मैंने खाया है—पर सरकार, मैं अपने व्रतको भङ्ग नहीं कर सक्ता! सरकार, यह अधर्म मुझसे न होगा।'

रा०—'चाण्डाल! क्या बकता है? धर्मका मर्म तू क्या जाने? तेरे लिये और कोई धर्म नहीं है। राजाकी आज्ञा पालना ही तेरा धर्म है!'

यम०—'नाथ! मैं अपने कर्मके कारण चाण्डाल हूं अवश्य; पर वह सब कुछ पापी पेटके लिये करना पड़ता है! पापी पेटकी ज्वाला शमन करनेके लिये किया गया काम, अन्नदाता, धर्म कैसा?'

रा०—'हैं—हैं! धर्मका उपदेश देने चला है, बदमाश! अपनी औकातको देख! छोटे मुंह बड़ी बात! याद रख, जिन्दा नहीं बचेगा!'

यमपालके भीतरका पुण्यतेज चमक रहा था—वह निशङ्क था ! राजाके रोषका उसे जरा भी भय नहीं था । वह भी दर्पके साथ बोला—'राजन् ! धर्मासनपर बैठकर धर्मका उपहास मत करो । धर्म जाति और कुल, धनी और निर्धनी—कुछ भी नहीं देखता । सीप जैसी नगण्य वस्तुमें मोती उत्पन्न होता है ! धर्म—स्वातिकी बून्द मुनिमहाराजके अनुग्रहसे मुझे मिल गई है । मुझे सीप-जैसा नगण्य लोक भले कहे, परन्तु निश्चय जानो, राजन् ! मेरे रोमरोममें धर्म समा रहा है ! मेरा वही सर्वस्व है ।

राजा आग बबूला होकर बोला—'अच्छा, तो रख अपने सर्वस्वको ! और चख अपनी धार्मिकताका फल—समुद्रके अनन्तगर्भमें विलीन होकर !'

चाण्डाल उद्वेगमें—आत्मावेशमें था ! बड़े दर्पसे उसने कहा—"तैयार हूं अपने धर्मका मजा चखनेको । पर राजन् ! एक बार सोच तो सही ! चाण्डाल कर्म—मनुष्य मारना, मेरा धर्म कैसे है ? उसके करनेके कारण ही तो लोग मुझे नीच और घृणा योग्य समझते हैं । क्या धर्म करनेसे कोई नीच और घृणित होता है ? फिर धर्म सबके लिये एकसा है । यदि चाण्डालकर्म धर्म है, तो वह सबके लिये एकसा होना चाहिये । फिर उस कर्मको चाण्डालोंतक ही क्यों सीमित रक्खा जाय ?....

राजा—'चुप रह—बक मत ! यह ढीठता ! सिपाहियो ! लेजाओ इसे और पटकदो समुद्रमें राजकुमारके साथ इसको भी ! राजाज्ञाका उलंघन नहीं होसक्ता ।

(४)

'विश्वासो फलदायकः'—विश्वास कहो या अटल निश्चय मीठा फल अवश्य देता है। इसका एक कारण है। आत्मामें अनंत शक्ति है। उस शक्ति पर विश्वास यदि लाया जाय, तो उसका प्रकाशमान् होना अवश्यम्भावी है। जैसा मन होगा वैसा ही होगा कार्य। मनका अटल निश्चय सुमेरुको भी हिला देता है। यमपालका आत्मविश्वास ऐसा ही चमत्कारी सिद्ध हुआ। सिपाहियोंने राजकुमारके साथ उसके हाथ-पैर बांध कर समुद्रमें फेंक दिया। किन्तु इस पर भी वे अपने पुण्य प्रतापसे जीवित निकल आये। लोगोंने उनको जीवित देखकर निश्चय किया कि 'यमपाल सचमुच धर्मात्मा है। यह उसके धर्मका ही प्रभाव है कि काल जैसे गंभीर समुद्रसे बचकर वह जीवित उभर आया! चाण्डाल होकर भी उसने धर्मके लिये प्राणोंकी बाजी लगा दी। यमपाल सचमुच देवता है। आओ, उसका हार्दिक स्वागत करें।' और निस्सन्देह लोगोंने उसका अद्भुत स्वागत किया।

राजाने जब यह बात सुनी तो उसे भी कुछ होश आया। प्रजा एक स्वरसे जिसका आदर-सत्कार कर रही है, वह उपेक्षणीय कैसे? राजाने अब विचार किया कि 'यमपाल चाण्डाल है तो क्या? दया धर्म उसकी नस-नसमें समाया हुआ है। दया करनेसे ही मनुष्य जगत्पूज्य बनता है और हिंसा करनेसे वही लोक-निन्द्य पापी कहलाता है। मुझे भी यमपालका समुचित सत्कार करना चाहिये। वह धर्मात्मा श्रावक है।'

× × × ×

राजदरबारमें अपार जनसमुदाय एकत्रित था। राजसिंहासन पर राजा महाबल बैठे हुये थे। पासमें ही यमपाल भी बैठा हुआ था। राजाने शांतिभंग करते हुये कहा—'सज्जनो! लोकमें गुणोंकी पूजा होती है—जाति, कुल, ऐश्वर्यादिको कोई नहीं पूंछता। निर्गुणोंको पूछे भी कौन? लोकमें प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा गुणोंके कारण ही मनुष्य प्राप्त करता है। आज आपके सम्मुख यमपाल मौजूद हैं। चाण्डालोंके घर इन्होंने जन्म लिया अवश्य; परन्तु अपने आत्मधर्म—अहिंसाभावको प्रगट करके यह लोकमान्य हुये हैं। दैवने इन्हें कालके मुखसे बचाकर मेरा और मेरे राज्यका उपकार किया है। यमपाल एक आदर्श श्रावक हैं और उनका आदर करना हमारा अहोभाग्य!'

इतना कहकर राजा महाबलने यमपालका अपने हाथोंसे अभिषेक किया और उन्हें वस्त्राभूषणोंसे समलंकृतकर लोकमान्य बना दिया। धन्य है चाण्डाल यमपाल, जो धर्मकी आराधना करके इस गौरवको प्राप्त हुये! अपने धर्मके लिये उन्होंने अपने प्राणोंको न्योछावर करनेकी ठानी। उनसे धर्म प्रकाशमान् है—चाण्डाल थे वह तो क्या? उन्होंने तो अपने आदर्शसे जाति सम्बन्धी उच्चता नीचताकी कल्पनाओंको धराशायी बना दिया। मिथ्यादृष्टी जातिको शाश्वत् माननेकी कल्पनाके विरुद्ध प्रत्यक्ष प्रमाण पाकर भले ही कुढ़ें, पर यमपाल स्वयं ही उनके सिद्धान्तका खण्डन है! धर्मका यही महत्व है।

[२]

अमर शहीद चाण्डाल चण्ड।×

(१)

पुष्कलावतीदेशमें पुण्डरीकिणी नामकी एक नगरी थी। गुणपाल उस देशका राजा था। राज्य करते हुये उसे बहुत दिन होगये थे। बाल उसके पक गये थे। उसका सपूत बेटा वसुपाल भी सयाना होगया था। गुणपालने सोचा कि 'राज्यभार वसुपालके सुपुर्द करूं और मैं कुछ अपनी आत्माका भी हित कर लू। राजपाट तो खूब किया, अब आखिरी वक्त तो सुधार लूं।' गुणपाल यही सोच रहा था कि उसके वनपालने आकर उसके सम्मुख मस्तक नवा दिया। राजाने पूछा—'वत्स! क्या समाचार है?'

वनपालने उत्तर दिया—'महाराज! मनोद्यानमें एक तपोधन श्रमण महात्मा पधारे हैं। वे महान् योगी हैं।'

वनपालके मुखसे अपने मन चेते समचार सुनकर राजा गुणपालको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने वनपालको खूब इनाम देकर विदा किया और स्वयं उन साधु महात्माकी वन्दना करनेके लिये वह चल पड़े।

नग्न—दिगम्बर साधु महाराजके दर्शन करके, राजा गुणपालने अपने भाग्यको सराहा। सचमुच साधु महाराजका आत्मतेज उनके मुखपर छिटक रहा था। जो मनमें होता है वह मुंह पर चमकता ही है। वह योगी थे। योगीका योग—आत्माका प्रभाव उनके मुखसे

× पुण्यास्रव कथाकोष पृ० २२८ और आराधना कथा कोषमें वर्णित कथाके आधारसे।

क्यों न प्रकट होता? राजा उनके चरणोंमें बैठ कर धर्मामृत पान करनेके लिये उनकी ओर निहारने लगा।

किन्तु यह क्या? साधु महाराज तो उनकी ओर देख भी नहीं रहे थे। राजाको आश्चर्य हुआ! आखिर बात क्या है? साधुकी दृष्टिके साथ राजाने भी अपनी दृष्टि दौड़ाई। उन्होंने देखा वहां एक तिलकधारी द्विज एक दीन मानवको टोक रहे हैं। चिल्लाहटमें उन्होंने सुना भी कि 'देखो, कम्बख्त अछूत चाण्डाल कहां आमरा— द्विजोंकी सभामें इसका क्या काम? पीटो—मारो—भगाओ यहांसे सालेको!' राजाको परिस्थिति समझनेमें देर न लगी। उनका इशारा पाते ही सिपाहियोंने उन झगड़ालुओंको जा पकड़ा। राजाके सामने वे दोनों लाकर उपस्थित किये गये।

झगड़ालुओंमें एक नंग-धड़ंग काला-कलूटा भयानक आकृतिका मनुष्य था। राजाने देखते ही उसे पहचान लिया। वह शाही जल्लाद था। लोग उसे चाण्डाल चंड कहते थे। राजाके सामने बेचारा थर-थर कांप रहा था। दूसरा गोरा—पीला तिलकधारी एक द्विजपुत्र था। राजाने कहा—'चण्ड! तुम्हारी यह शरारत!'

चण्ड पर मानो वज्रपात हुआ! वह कुछ बोले ही कि द्विजपुत्र दाल भातमें मूसरचंदकी तरह बात काट कर आ धँमका। वह बोला— 'देखिये न इस नीचकी धृष्टता! यह महान् अछूत और इसकी यह हिमाकत—ब्राह्मणोंकी बराबरी करने चला है। धर्म सभ में आया है बदमाश।'

द्विजपुत्रका यह जातिमद देखकर हितोपदेशी वह साधु महाराज बोले—'वत्स! क्या कहा? धर्ममें जातिगत उच्चता नीचता कैसी?'

ब्राह्मण सिटपिटा गया और उत्तरमें बोला—'महात्मन्! लोकमें

हमने यही सुना है कि चाण्डाल शूद्रोंसे भी गये बीते होते हैं। उनकी छाया भी अपने पर नहीं पड़ने देना चाहिये।'

साधु०—'द्विजपुत्र ! तुमने ठीक सुना है; किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि चाण्डालोंके साथ क्रूरताका व्यवहार किया जाय। जानते हो कि उनकी संगति क्यों नहीं करना चाहिये ?'

द्विज०—'महाराज ! चाण्डाल महान् हत्यारे होते हैं। हत्यारोंकी संगति अच्छी नहीं होती।'

साधु०—'ठीक है। पर सोचो तो। यदि कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य हत्यारा है तो क्या तुम उसे नहीं छूते ? उससे दुनियादारीका व्यवहार नहीं रखते ?'

द्विज०—'महाराज ! वह हत्यारा, चाण्डाल नहीं है, इसलिये वह अछूत नहीं है। हम-सब उसके साथ उठते-बैठते खाते-पीते हैं।'

साधु महाराज मुस्कराते हुये बोले कि 'सोचो जरा, जब हत्या करनेके कारण चाण्डाल अछूत है तब वैसा ही हिंस्र कर्म करते हुये ब्राह्मण-क्षत्रियादि क्यों नहीं ? क्या हिंसा जनित पापके कारण वे दुर्गतिको नहीं जायगे ?'

द्विज०—'हिंसा करना पाप है और पापका परिणाम दुर्गति है महाराज !'

साधु०—'वत्स ! तो फिर जातिका अभिमान क्यों करते हो? संसारमें कोई वस्तु नित्य नहीं है। जाति-कुल भी संसारकी चीज है। आत्मामें न जाति है न कुल है, और न वर्ण है। वह एक विशुद्ध अद्वितीय द्रव्य है। धर्मका सम्बन्ध आत्मामे है और आत्मा प्रत्येक प्राणीमें मौजूद है। तब भला कहो, धर्ममें ब्राह्मण—चाण्डालका भेद

कैसा ? धर्म ब्राह्मणके लिये है और एक चाण्डालके लिये भी है । हिंसा-चोरी-असत्य-कुशील आदि पापोंमें लिप्त होकर एक ब्राह्मण चाण्डालसे भी गया बीता हो सकता है और एक चाण्डाल अहिंसा-सत्य-शील आदि धर्मगुणोंको धारण करके जगतपूज्य बन जाता है । इसलिये एक ब्राह्मणको तो जीव मात्र पर दया करनी चाहिये । शरीरकी बाहरी अशुचिको देखकर वह कैसे किसीसे घृणा करेगा ? सच्चा ब्राह्मण जानता है कि शरीर तो जड़से ही अशुचिताका घर है-मैलका थैला है । इस गरीब चण्डको तुमने व्यर्थ ही मारा-पीटा । समझाओ इसे धर्मका स्वरूप और करने दो इसे अपनी आत्माका कल्याण । '

गुरुमहाराजके इस धर्मोपदेशका प्रभाव उपस्थित मण्डली पर खूब ही पड़ा । राजा गुणपालका चोला वैराग्यके गाढ़े रंगसे खूब रंग गया था । उन्हें संसारमें एक घड़ीभर रहना दूभर होगया । अपने पुत्र वसुपालको उन्होंने राजपाट सौंपा और वह स्वयं उन मुनिराजके निकट मुनि होगये । राजाके इस त्यागका प्रभाव अन्य लोगों पर भी पड़ा। उन्होंने भी यथाशक्ति व्रत ग्रहण किया। चण्डका हृदय भी करुणासे भीज रहा था। साधु म०के पैरों पर वह गिर कर बोला-' नाथ ! मुझ दीनको भी उबारिये । '

कहना न होगा कि साधु महाराजके निकट चण्डने अहिंसा-व्रत ग्रहण कर लिया। उसने अब किसी भी जीवको न सतानेकी दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली । पर्व दिनों पर वह उपवास भी करता था । शुद्ध-सादा जीवन वह व्यतीत करने लगा । वह पूरा धर्मात्मा हो गया । और उसके धर्मात्मापनेका प्रभाव उसके कुटुम्बियों पर भी

पड़ा । वे भी धर्मका महत्व जान गये । पशु जीवन व्यतीत करनेसे उन्हें भी घृणा हो गई । धन्य हैं जैन मुनि जिन्होंने चाण्डालोंको भी सन्मार्गमें लगाया ।

(२)

“ सुनते हैं रंभाका रूप अद्वितीय है । पर यह तो लोग कहते हैं । किसीने आज तक रंभाको देखा भी है ? बाहरी दुनियां ! खूब बेपरकी उड़ाया करती है । मेरी रंभाके सौन्दर्यको वह देखे ! कैसा सुन्दर है उसका मुखड़ा । बादलोंमें जैसे पूर्णमासीका चंद्रमा चमकता है, ठीक वैसी ही प्रभा मेरी प्रियतमाके मुखमें देखनेको मिलती है । लोग गाते हैं ‘ बिन बादल बिजली कहां चमकी ? ’ मैं कहता हूं उनसे, वह इसका उत्तर पानेके लिये मेरी रंभाको देखें । उसके उन्नत भाल पर सोनेकी बिन्दी गजब ढाती है । और हां, उसकी नाक तो जरा देखो ! कैसी नुकीली है ! भौंहें कमानकी तरह सीधी कानों तक तनी चली गई हैं । और उसकी चितवन सचमुच बिजलीका काम करती है । उसका हंसना मुझपर फूल बरसा देता है, मेरा दिल उसको देखते ही बाग–बाग हो जाता है । लेकिन आज कई दिनसे वह उदास है । उसके कुमलाये हुये मुखडेको देखते ही मुझ पर वज्रपात हुआ । मैं भूल गया अपने तन–मनको । बड़ी अनुनय–विनय करने पर कहीं उसने अपने मनकी बात कही । बड़ी लजीली है वह । लेकिन उसकी बात सुनकर मैं उलझनमें आ गिरा हूं । राजाके यहांका एक सिपाही–दस रुपल्लीका एक नौकर, भला कैसे राजा–महाराजाओंकी रीस करे ? उनके धारा प्रवाह बहता है–चाहे कुछ खायें-पीयें, पहने-ओढें ।

मेरी उनकी निस्बत क्या ? लेकिन बात रंभाकी है ? उसको कैसे मनाऊं ? मेरे रहते उसे कष्ट होवे ? हरगिज नहीं। मैं अपनी बिसात उसकी अंगली भी नहीं दुःखने दूंगा—दिल दुःखना तो दूर रहा ! उस रोज उस नंगे भिखमंगेको देखकर वह डर गई। मैं यह कैसे देख सक्ता था। मैंने उस भिखमंगेका सर ही धड़से अलग कर दिया। मैं रंभाको अवश्य प्रसन्न करूंगा। राजा है तो क्या ? उसे मिलता तो धन प्रजासे ही है। वह बैठा-बैठा गुलछर्रे उड़ावे और हम मुंह ताका करें ! कहीं लड़ाई छिड़े तो जान हथेली पर धर कर लड़ने हम जायें और राजा सा० महलमें पडे-पडे मौज मारें ! यह नहीं होनेका ! मैं लाऊंगा राजाके गहने और पहनाऊंगा अपनी प्यारी रंभाको। आजही लो—यह मैं करके मानूंगा।"

राजा वसुपालकी सेनाका एक भावुक सिपाही यह बैठा सोच रहा था। राजाके अंगरक्षकोंमें उसकी तैनाती हुई थी। वह जवान था और कामुक भी। अपनी प्रियतमाको प्रसन्न करनेके लिये उसने राजमहलमें चोरी करनेकी ठानी। रात आते ही वह मौका पाकर महलोंमें जा घुसा और लाखों रुपयेका माल बटोर कर अपनी प्रियतमाको उसने जा सौंपा। रंभा इस अपार धनको पाकर फूले अंग न समाई, किन्तु उसे यह न मालूम था कि यह पापका धन उसके जीवनाधारको ले बैठेगा।

बात भी यही हुई। कोतवालने उसके यहांसे सारा धन बरामद किया। राज दरबारसे उसे फांसीका दण्ड मिला। इन्द्रिय वासनामें अंधे होनेका कटुफल उसे चखना पड़ा। अब रंभा भी पछताती थी और सिपाही भी, पर अब होता क्या ? चिड़ियां तो खेतको चुग गईं थीं।

(३)

पुण्डरीकिणी नगरीके बाहर एक छोटासा लाखका घर बनाया गया था। राजा वसुपालने शाही जल्लादको प्राणदण्डका मज़ा चखानेके लिये उसे बनवाया था। राजाके लिये उसकी आज्ञाका भङ्ग होना, महान् असह्य अपमान है। राजसत्ताका आधार ही राजाकी आज्ञा है। यदि कहीं उसका उल्लंघन होने लगे तो राजा न कहींका होरहे। इसीलिये राजद्रोहीको प्राणदण्ड देना राजनीतिमें विधेय है। राज्यके इस नियमके सम्मुख धर्मनीति पङ्गु होजाती है। राजा न्याय-अन्याय पीछे देखता है; पहले तो वह अपनी आज्ञाकी पूर्ति चाहता है। राजा वसुपाल इस नियमका अपवाद कैसे होता? उसका ही जल्लाद उसकी आज्ञाका उलंघन करे, इससे अधिक गुरुतर अपराध और क्या हो सक्ता है? चण्डने अहिंसाव्रत ग्रहण किया अवश्य था; किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह राज्य व्यवस्थामें अड़ंगा डाले। उसको प्राणदण्ड मिलना चाहिये। सचमुच अपने इस अद्भुत तर्कके बल पर राजा वसुपालने धर्मात्मा चण्डको प्राणदण्ड दे डाला था। चण्ड था तो चाण्डाल ही; परन्तु उसके भीतरका देवता जागृत होगया था। उसने अपनी प्रतिज्ञाके सामने अपने शरीरकी कुछ भी परवा नहीं की! अपने प्राणोंको देकर उसने व्रतरक्षाका मूल्य चुकाया।

राजा वसुपालने लाखके घरमें चोर सिपाहीके साथ चण्डको जला मारनेका हुक्म दे डाला। जल्लाद और सिपाही–दोनों ही उसमें बन्द थे। चण्डको प्राण जानेका भय नहीं था, बल्कि व्रत-

रक्षाके भावसे उसके रोम-रोमसे प्रसन्नता निकल रही थी। किन्तु उसके साथी मुनि घातक और चोर सिपाहीका बुरा हाल था। वह अपनी जान जानेके भयसे विह्वल था। कुछ उसे चण्डका भी ध्यान आगया। वह चाण्डालसे बोला—"भाई! तू मुझे मारकर सुखी क्यों नहीं होता? मैं तो मरूंगा ही—तू नाहक अपनी जान देता है!"

चण्ड उसकी बात सुनकर हंस पड़ा। और उत्तरमें उससे कहा—"भाई! मुझे भी अपनी जान प्यारी है और मैं उसे अपनी बिसात जाने न देता। किन्तु मैं देखता हूं कि उसका मोह करनेसे मेरी उससे भी अधिक मूल्यकी प्यारी वस्तु खोई जाती है। इसकी रक्षा मैं करूँगा। मरनेका मुझे जरा भी डर नहीं है।"

सिपाही यह सुनकर चंडके मुंहकी ओर ताकने लगा। उसकी इस विवशतापर चंड और भी हंसा। वह बोला—"अरे भोले! तू अभी शरीरके मोहमें ही पड़ा है, जिसका मिलना दुर्लभ नहीं है। देख तू यह कुरता पहने है। यह फट जायगा। तू इसे फेंक देगा और दूसरा नया पहन लेगा। ठीक ऐसे ही हमारे भीतरके देवता—आत्मारामका यह शरीर चोला है—यह नष्ट होगा तो दूसरा नया मिलेगा। फिर इसके लिये चिंता किस बातकी! हमें तो अपना कर्तव्य—अपना धर्म-पालन करना चाहिये।"

सिपाहीको अब कुछ होश आया। चंडको यह देखकर प्रसन्नता हुई। वह बोला—'भाई! धर्मका माहात्म्य ऐसा ही है। धर्म किसीको कष्ट देना नहीं सिखाता। मैं अपना धर्म पागालूं। प्राणोंकी

मुझे परवा नहीं। मेरे अहिंसाव्रत है। मैं स्वयं मर जाऊंगा, पर दूसरेको मारूंगा नहीं। अन्याय–अधर्मके सन्मुख कभी भी मस्तक नहीं नवाऊंगा। यही मेरे धर्मका अतिशय है!'

सिपाही चाण्डालके मुखसे धर्मका यह मार्मिक उपदेश सुनकर स्थंभित होरहा। उसने भी किसी जीवको अकारण कष्ट न पहुंचानेका नियम ले लिया। उसे अपनी आत्माके अमर–जीवनमें विश्वास हो गया। चाण्डालके संसर्गसे उस 'कुलीन'के भी सम परिणाम हो गये। अब उन्हें मरनेका भय नहीं था। चाण्डालने 'कुलीन'का जीवन सुधार दिया! मनीषी स्वयं तरते हैं और दूसरोंको तार देते हैं।

(४)

लाखका घर धू–धू करके जल रहा था। चण्ड उसमें निश्चल ध्यानारूढ़ बैठा हुआ था। आगके शौले उसके शरीरको जैसे–जैसे भस्म करते थे वैसे–वैसे ही उसका आत्म तेज प्रकट होता था। वह महान् आत्मवीर था और धर्म-रक्षाके लिये अपने प्राणोंकी आहुति देकर सचमुच वह अमर शहीद हुआ। धन्य हो चण्ड! तुम चांडाल थे तो क्या? तुमने काम एक ब्राह्मणका कर दिखाया।

धर्मात्मा मनुष्योंने सुना कि चण्डने प्राण देदिये पर अपना धर्म न छोड़ा–वे दोड़े-दौड़े वहां आये जहां चण्डका शरीर अग्निकी ज्वालाओंसे अठखेलियां कर रहा था। उन्होंने चाण्डाल चण्डके अन्तिम दर्शन पाकर अपनेको सराहा–उसपर फूल वर्षाये। फूल उन्होंने ही नहीं वर्षाये–विमानमें बैठे हुये देव-पुरुषोंने भी फूल -वर्षाकर चाण्डालकी आत्मदृढ़ताका-सम्मान किया।

उपरान्त लोगोंने किसी सर्वज्ञ-जीवन्मुक्त परमात्मासे सुना कि चण्ड स्वर्गमें देव हुआ है। यह उसकी धर्मपरायणताका मीठा फल था। जन्मका चाण्डाल भी अहिंसा धर्मका पालन करके स्वर्गका देवता हुआ जानकर लोगोंने जातिमदको एकदम छोड़ दिया-गुणोंकी उपासना करनेका महत्व उन्होंने जान लिया। गुण ही पूज्य हैं-गुणोंसे रङ्क राव बनता है। गुणहीन कुलीनको कौन पूछे?

लोगोंने यह भी देखा था कि चण्डका पुत्र अर्जुन भी उसीके सदृश धर्म-वीर है। पिताको आगमें जलते हुये देखकर भी उसके मुंहसे न तो एक 'आह' निकली, और न आंखसे एक आंसू टपका। उसका हृदय आत्मगौरवसे ओतप्रोत था। जैसा पिता वैसा ही उसका वह पुत्र था। अपने जीवनभर उसने अहिंसाधर्मका पूरा पालन किया था। वंशगत आजीविकाको-उदर धर्मको परमार्थके लिये छोड़ देनेका साहस उनही जैसे महान् वीरमें था। पापी पेटके लिये तो न जाने कितने तिलकधारी धर्मका खून कर डालते हैं। और वे अपनेको चाण्डालसे श्रेष्ठ बतलानेका भी दम्भ करते नहीं हिचकते। अर्जुनने अपनी आजीविकाकी परवा नहीं की। उसका पिता चण्ड उसे यही तो स्वयं नमूना बनकर बता गया था। वह अहिंसक वीर रहा और उसने अपने जीवनका अन्त भी एक वीरकी भांति किया। वह कायरोंकी तरह खाट पर नहीं मरा। पिताकी तरह उसने भी समाधिस्थ हो इस नश्वर शरीरको छोड़ा था और स्वर्गमें जा देवता हुआ था।

[३]

जन्मान्ध चाण्डाली दुर्गन्धा।×

(१)

पतितोद्धारक भगवान महावीर जैन तीर्थङ्करोंमें सर्व अन्तिम थे। आजसे लगभग ढाईहज़ार वर्ष पहले वह इस भारतभूमिको अपनी चरण-रजसे पवित्र कर रहे थे। मगधका राजा श्रेणिक बिम्बसार उनका समकालीन और अनन्य भक्त था। एक दफा भगवान महावीर विहार करते हुए मगधकी राजधानी राजगृहके निकट अवस्थित विपुलाचल पर्वतपर आ विराजमान हुये। राजा श्रेणिकने उनके शुभागमनकी बात सुनी। वह शीघ्र ही उत्साहपूर्वक प्रभू वीरकी वन्दनाके लिये गया। भगवान महावीरको नमस्कार करके वह उनके पादपद्मोंमें बैठकर चातककी भांति धर्मामृत पानेकी प्रतीक्षा करने लगा।

भगवानकी दीनोद्धारक वाणी खिरी। श्रेणिकको उसे सुनते हुये अमित आनन्दका अनुभव हुआ। उसे अब दृढ़ निश्चय होगया कि धर्म वह पवित्र वस्तु है जो अपवित्रको पवित्र और दीन-हीनको महान् लोकमान्य बना देता है। मनुष्य चाहे जिसप्रकार जीवन परिस्थितिमें हो, वह धर्मकी आराधना करके जीवनको समुन्नत बना सकता है—'वसुधैव कुटुम्बकम्' की नीतिका अनुसरण करके वह लोकप्रिय होता है। इस सत्यको जान करके श्रेणिकके मनमें यह जिज्ञासा हुई कि वस्तुतः क्या कोई दीन हीन धर्मकी शीतल छायामें आकर परमोत्कर्षको प्राप्त हुआ है? उन्होंने भगवानसे अपनी शङ्का

× पुण्याश्रव कथाकोष पृ० १०९ व हरिवंशपुराण पृ० ४१८।

निवेदन की और उत्तरमें उन्होंने सुना—"एक नहीं, अनेक उदाहरण इसतरहके जगतमें मिलते हैं ।"

श्रेणिकने कहा—"प्रभू ! मुझे भी एकाध सुना दीजिये ।"

भगवानने उत्तर दिया—"वत्स ! राजकुमार अभयके पूर्वभव तुमने सुने हैं । जातिमदमें मत्त वह किस तरह अपने एक पूर्वभवमें धर्मसे पराङ्मुख था । एक श्रावकने उसका यह जातिमदका नशा उतार फेंका था और उसे सुदृष्टि प्रदान की थी !"

श्रे०—"हां, नाथ ! यह तो मैं सब सुन चुका हूं और मुझे जातिकुलकी निस्सारता खूब जँच गई है । अब तो कौतूहलवश यह पूछ बैठा हूं ।"

"श्रेणिक, तुम दृढ़ श्रद्धानी हो । तुम्हारा प्रश्न प्रशंसनीय है । आओ, सुनो, तुम्हें धर्मके पतितोद्धार रूपके उदाहरण बतायें !"

(२)

श्रेणिकके प्रश्नके उत्तरमें सर्वज्ञ प्रभू महावीरकी जो वाणी खिरी उसे सब ही उपस्थित जीवोंने प्रसन्नचित्त होकर सुना । भगवद्वाणीमें उन्होंने सुना कि "कोई भी प्राणी यह चाहे कि मैं उन्नतिकी चरमसीमाको एकदम प्राप्त करलूँ तो यह असंभव है । प्राणी धीरे धीरे उन्नति करके पूर्णताको प्राप्त होता है । प्राणियोंकी आत्मायें सब ही एक समान ज्ञानदर्शनरूप हैं । उनके स्वरूप और शक्तिमें तिल मात्रका अन्तर नहीं है ! किन्तु इच्छा—पिशाचीके कारण वह अपने स्वभाव—अपने धर्मसे दूर भटक रहे हैं । कोई ज्यादा दूर भटका है और कोई कम ! किसीकी इच्छायें ज्यादा हैं, उसके कषाय प्रवृत्ति अधिक है, वह आत्मरूपसे बहुत दूर है ! इसके विपरीत जिसकी इच्छायें

कम हैं, कषाय मन्द हैं, वह संतोषी है और आत्मरूपके निकट है। इच्छा-पिशाचीका कोई एकदम दलन नहीं कर सक्ता। संस्कारोंके प्रभावको कोई एकदम नहीं मेंट सक्ता। क्रम-क्रम कर प्राणी बुरे संस्कारोंको छोडता और अच्छे संस्कारोंको ग्रहण करता है। श्रेणिक! क्या समझते हो? मैं जीवन्मुक्त परमात्मा इस शरीरको पाते ही हो-गया हूं? नहीं! एक समय था जब मेरा आत्मा एक ऐसे मनुष्य-शरीरमें था जो शिकार खेलने और मांस खानेमें आनन्द मानता था। आह! कितनी विषमता थी वह! 'जीवोंका मारना अधर्म है', यह पाठ मैंने अपने उस जीवनसे पढ़ना आरम्भ किया था। मालूम है, युधिष्ठिरने सत्यका स्वरूप समझनेके लिये वर्षों उद्यम किया था, तब वह उसको ठीकर समझ पाया था। उसके भाइयोंने बड़ी जल्दी ही कह दिया था कि 'हमने सत्यको समझ लिया।' किन्तु उनके जीवन बताते हैं कि वस्तुतः किसने धर्मका स्वरूप समझा था। अब समझे श्रेणिक! धर्म किसतरह दीन मनुष्यको जगत्पूज्य बनाता है?"

नतमस्तक होकर श्रेणिकने कहा—"प्रभो! खूब समझा। नाथ! आप अहिंसाके अवतार हैं। प्राणीमात्रके लिये आप शरण हैं। यह नृशंस पशु भी तो आपकी निकटतामें अपनी क्रूरता खोबैठे हैं। निस्सन्देह आप पतितोद्धारक हैं।"

(३)

प्रभू महावीरने श्रेणिकके भक्ति-आवेशको बीचमें ही रोककर कहा—"श्रेणिक! अभी और सुनो। भूली-भटकी दुनियां आज चाण्डालों, शूद्रों और स्त्रियोंको धर्माराधनासे वंचित रखनेमें गर्व करती है। इनको धर्म संस्कारसे संस्कारित करने—उन्हें आत्मस्वरू-

यके बोध करानेमें वह पाप समझती है। मैं पूंछता हूं; तुम अपनी एक मूल्यवान् वस्तु एक पड़ोसीके यहां भूल आओ और अन्य विषयोंमें ऐसे रम जाओ कि उसकी सुध ही न लो। अब बताओ, क्या तुम्हारे पड़ोसीका यह धर्म नहीं होगा कि वह तुम्हें तुम्हारी भूली हुई वस्तु बतला दे—उसे तुम्हें प्राप्त करादे ?

श्रे०—"नाथ! अवश्य ही यह उसका कर्तव्य होगा!"

"होगा न ? वह तो उसीकी वस्तु है। बस, श्रेणिक! ठीक ऐसे ही धर्म भी प्रत्येक आत्माकी अपनी निजी वस्तु है। वह उसका अपना स्वभाव है, उसे वह भूला हुआ है। अब एक धर्मज्ञका यह कर्तव्य है कि वह उन्हें उनकी भूल सुझा दे और धर्मका बोध उन्हें करादे। चाण्डाल, शूद्र और स्त्रियां यदि अपनी भूलसे धर्मके मर्मको नहीं समझे हुये हैं तो तुम तो ज्ञानी हो, धर्मज्ञ हो, उन्हें आत्म-बोध कराओ। जैन श्रमण सदा यही करते हैं। सुनो, एक कथा बताऊं। एक दफा चंपानगरीमें एक चाण्डाल रहता था। नील उसका नाम था। कौशाम्बी नामकी उसकी पत्नी थी। उन दोनोंके एक पुत्री हुई। पर दुर्भाग्यवश वह जन्मसे अंधी थी और उसपर भी उसके शरीरसे दुर्गंध आती थी। पहले तो वह चाण्डालके घर जन्मी, सो लोग उसे वैसे ही दुरदुराते थे! उसपर कोढ़में खाजकी तरह वह दुर्गंधा थी। उसके भाई-बन्धु भी उसे पास न बैठने देते थे। बेचारी बड़ी परेशान थी। वह दुखिया अकेली एक जामुनके वृक्ष तले पड़ी२ दिन काटती थी! किन्तु सदा दिन किसीके एकसे नहीं रहते। चम्पानगरीमें सूर्यमित्र और अग्निभूति नामके दो जैन मुनि आये। सूर्यमित्रने वहां उपवास मांड़ा सो वह नगरमें आहारके लिये नहीं

गये; परन्तु अग्निभूति आहारचर्याके लिये गये। उन्हें वह दुर्गंधा दृष्टि पड़ गई।

यद्यपि उस चाण्डाल पुत्रीकी देहसे दुर्गंध आरही थी, उसके शरीरसे कोढ़ चूरहा था और मक्खियां बेहद भिनभिना रहीं थीं; फिर भी अमित दयाके आगार मुनि अग्निभूतिने उससे घृणा नहीं की। करुणाका श्रोत उनके हृदयसे ऐसा उठा कि वह आंखोंसे बाहर बह निकला। किन्तु दूसरेकी करनीको कोई मेटे कैसे? अपनी करनी अपने साथ! हां, उस जन्मांध चाण्डालीमें यह सामर्थ्य थी कि वह उस करनीपर अपनी नई करनीसे पानी फेर दे। जानते हो श्रेणिक! वह चाण्डाली उस दीनदशामें हतभाग्य थी अवश्य परन्तु उसकी आत्मामें अनन्तशक्ति विद्यमान थी। आत्मा अपने स्वभावसे, शक्तिसे कर्मों की किसी भी दशामें च्युत नहीं होसक्ता। यह दूसरी बात है कि प्रकृति पुद्गलके प्राबल्यमें कालविशेषके लिए वह हीनप्रभ होजाय और नव अपने शौर्यको व्यक्त न कर सके! किन्तु निश्चय जानो कि उसकी शक्ति उसका वीर्य तब भी अक्षुण्ण रहता है। अग्निभूति जन्मांध चाण्डालीकी बात सोचते २ आचार्य सूर्यमित्रके पास पहुंचे और उनसे चाण्डालीकी बात कही!

सूर्यमित्र विशेष ज्ञानी थे, उन्हें जन्मांध चाण्डालीका अन्तर दीख गया। वह उसका निमित्त विषय जान गये! वह बोले—'यह संसार दुर्निवार है। प्राणी इसमें घूमता हुआ तरह तरहके रूप धारण करता है। अच्छे २ काम करके इस लोकमें वह भला दीखता है। वही प्राणी यदि खोटी संगतिमें पड़कर बुरे २ काम करता है तो लोकमें सब उसे बुरा कहते और वह देखनेमें भी बुरा होजाता है।

वत्स ! तुम्हें याद होगा, अयोध्यामें पूर्णभद्र और मणिभद्र नामक सेठ रहते थे। उन्होंने एक दिन एक चाण्डाल और एक कुतियाको देखा था; जिन्हें देखकर उनके हृदयोंमें अकारण नेह उमड़ पड़ा था। दोनों सेठोंने ध्यानी-ज्ञानी मुनिराजसे उसका कारण पूछा था और जाना था कि वह चाण्डाल तथा कुतिया उनके पहले जन्मके पिता माता हैं। यह बात जानकरके दोनों सेठोंने जाकर उस चाण्डाल और कुतियाको धर्मका उपदेश दिया था; जिसके परिणामस्वरूप चाण्डालने श्रावकके व्रत ग्रहण किये थे। वह जैनी होगया था। कुतिया चाण्डालके साथ रहती थी। उसने देखा कि मेरा मालिक चाण्डाल अब न पशुओंको मारता है और न उनका मांस खाता है तो उसने भी जानवरोंको मारना और मांस खाना छोड़ दिया। चाण्डालकी देखादेखी कुतिया भी धर्मका अभ्यास करने लगी ! निस्सन्देह सत्संगति ही कल्याणकारिणी है। भाई अग्निभूति! आखिर वह चाण्डाल समाधिमरण करके सोलहवें स्वर्गमें देव हुआ और उसकी अच्छी संगति पाकर कुतिया अयोध्याके राजाकी रूपवती नामकी सुंदर राजकुमारी हुई ! यह धर्मका माहात्म्य है, अग्निभूति ! जिस जन्मांध चाण्डाल पुत्रीको तुम देख आये हो, वह भी निकट भव्य है ! उसे धर्मका स्वरूप समझाओ। उसका जीवन भी समाप्त होनेवाला है, धर्मामृत पिलाकर उसे अमर जीवनकी झांकीभर तो करादो ! फिर देखो वह एक दिन अवश्य ही लोकवन्द्य हो जायगी !"

श्रेणिक ! सचमुच अग्निभूति मुनि यह सुनकर तत्क्षण उठे और बड़े प्यार तथा सहानुभूतिसे उन्होंने उस हतभाग्य चाण्डाल-पुत्रीको धर्मका मर्म सुझाया। तरह तरहसे समझाबुझाकर उसके परि-

णामोंको धर्ममें स्थिर किया ! निस्सन्देह सच्चे साधु, प्राणीमात्रका उपकार करना अपना कर्तव्य समझते हैं ! अग्निभूतिके उपदेशसे उस चाण्डाल कन्याने पंच अणुव्रतोंको धारण कर लिया और उसी समय समताभावसे उसने सन्यास मरण किया ! श्रेणिक ! जैसे प्राणीके अन्तिम समयमें परिणाम होते हैं वैसी ही उसकी गति होती है। चाण्डालपुत्रीको मरते दम तक अग्निभूति मुनिने धर्मका स्वरूप समझाया था, उसके भाव धर्मसे ओतप्रोत थे ! वह उन भावोंको लेकर मरी सो वैसे ही शुभभावके धारी चम्पानगरके ब्राह्मण नागशर्माके पुत्री हुई। देखा श्रेणिक ! वह चाण्डाली धर्मके सहायसे परिणामोंको उज्ज्वल बनाकर ब्राह्मणी होगई !"

श्रेणिकने मस्तक नमाकर कहा—"दीनबन्धो ! आप और आपका धर्म ही इस भयंकर भव-वनमें एक मात्र शरण है।"

श्रेणिकने वीर-वाणीमें यह भी सुना कि उसी जन्मांध चाण्डालीका जीव फिर आगे बराबर कल्याण मार्गमें उन्नति करता गया और आखिर वही महात्मा सुकुमाल हुआ; जिनकी पुण्यकथा हरकोई जानता और मानता है। श्रेणिक यह सब कुछ सुनकर बहुत ही प्रसन्न हुआ। वह उठा और उसने प्रभू महावीरके पादपद्मोंमें शीश नमाकर प्रणाम किया।

राजगृहको लौटते हुये वह बराबर धर्मके पतितपावन रूपका चिंतवन करता रहा ! उसका हृदय निरन्तर यही कहता—'धन्य हैं प्रभू महावीर और धन्य है उनका धर्म जो पतित जीवका भी उद्धार करता है।"

---

[४]

चाण्डाल-साधु हरिकेश !×

(१)

वसन्त अपनी पूरी बहारपर था। उसने चहुंओर सरस मादकता फैला दी थी। वनलतायें और वृक्ष तो प्रणयवेलिका आनन्द लूट ही रहे थे; किन्तु रसभरे मनुष्य भी कामके पंचशरोंसे विंधे प्रेम मधुको चखनेके लिये मतवाले होरहे थे। युवक और युवतियां टोली टोली बनाकर वनविहारको जाते थे और वसन्तोत्सव मना कर आनन्द-विभोर होते थे। कहीं वीणाकी मधुर झंकार और प्रेमिकाके सुरीले कंठरवमें भीजकर प्रेमीजन संगीतका स्वर्गीय आनन्द लूटते थे। कहीं पर प्रेमोन्मत्त दम्पति जलक्रीड़ा द्वारा एक दूसरेके दिलोंमें गुदगुदी उत्पन्न करते थे। वसन्तने सचमुच उनमें नया जोश और नई जवानी लादी थी। वे उसका रस लूटनेमें बेसुध थे। प्राचीन भारतका यही तो राष्ट्रीय त्योहार था। इस त्योहारको भारतीयजन बड़े उल्लास और कौतुकसे मनाते थे।

मृत गङ्गाके किनारे कुछ झोंपड़ियां थीं। उनके पास ही हड्डियोंका ढेर था और गढेमें लोहू और राध पड़ा सड़ रहा था; जिनपर चील कउवे मड़राते रहते थे। उन झोंपड़ियोंमें चाण्डाल लोग रहते थे। अपने हिंसाकर्मके कारण वे मनुष्य समाज द्वारा तिरस्कृत अछूत थे। कोई उन चाण्डालोंको अपने पास होकर निकलने नहीं देता था।

× उत्तराध्ययन सूत्र (श्वेताम्बर आगम ग्रंथ) के आधारसे।

परन्तु इससे क्या होता ? आखिर वे मनुष्य थे और उनके दिल था, वसन्तोत्सव मनानेमें वे किसीसे पीछे न रहे।

उन चाण्डालोंका नेता बलिकोटी था, उसकी गौरी और गांधारी नामकी दो पत्नियां थीं। गौरीकी कोखसे एक पुत्र जन्मा था, वह जवान था और उसका नाम हरिकेश था। किन्तु वह था बड़ा ही कुरूप और उतना ही अधिक चंचल। वसन्तोत्सवमें उसने भी खूब भाग लिया। शराब पीकर वह बदहोश होगया और उसने अपशब्द बकना तथा ऐसी घृणित चेष्टायें करनी आरम्भ कीं कि स्वयं बलिकोटी उनको सहन नहीं कर सका। हठात् उसने चाण्डालोंसे कहा कि 'हरिया बदमाश है। इसे अपनेमेंसे निकालकर बाहर करो।'

चाण्डाल हरियाकी नटखटीसे ऊब ही रहे थे। उन्होंने उसे मारकूटकर अपनेमेंसे निकालकर बाहर कर दिया और वे फिर आकर उत्सव मनानेमें मग्न होगये।

(२)

जब जीवका अच्छा होना होता है तो बुरा भी भला होजाता है। हरिबलको चाण्डालोंने अपनेमेंसे निकाला क्या, उसका जीवन सुधर गया। हरिबलकी प्रकृति अक्खड़ थी, वह देखनेमें ही भयानक नहीं, हृदयमें भी भयानक था। अपने मनकी करना उसे इष्ट था। जब चाण्डालोंने उसे अपने उत्सवमेंसे निकाल दिया तो वह उनके पास ही क्यों जाय? उसकी मां भी तो वहां थी और बाप भी। उन्होंने भी तो उसका कुछ ख्याल नहीं किया! मांकी ममता तो जगप्रसिद्ध है, पर उसके लिये वह पत्थर होगई! उसे क्या पड़ी

जो वह उनके पास जाये। ऐसे ही सोच विचारकर हरिकेशने निश्चय कर लिया कि अब वह लौटकर अपने गांव नहीं जायगा। वह वनमें रहेगा, वनफलोंको खायगा और पूर्ण स्वतंत्र होकर विचरण करेगा। उसके समान और कौन सुखी होगा ?

हरिकेशबलने किया भी ऐसा ही। वह वनमें सिंहके समान स्वतंत्र घूमता, फिरता और जो कुछ फल आदि मिलते उनको खाता।

एक दिन घूमतेर वह एक आम्रवाटिकाके पास जा पहुंचा। वहांपर एक जैन मुनि बैठे हुये थे। हरिकेशके भयानक रूपको देखकर वह मुस्करा दिये। चाण्डालका भी साहस बढ़ा, वह उनके पास चला गया। बहुत दिनोंसे उसने कोई मनुष्य देखा भी तो नहीं था। उन मुनिको देखकर उनके पास बैठनेको उसका जी कर आया। मुनिने उसे धर्मका महत्व समझाना आरम्भ किया। हरिकेश एकदम चौंक पड़ा और बोला-" महाराज! मैं तो चाण्डाल हूं, मुझे तो लोग छूते भी नहीं, धर्म मैं कैसे पालूंगा ?"

मुनि बोले-"चाण्डाल हो तो क्या हुआ ? हो तो मनुष्य न ? दुनियां तुम्हें नहीं छूती, मत छूओ! किन्तु धर्मका ठेका तो किसीने नहीं ले रक्खा है। तुम चाहो तो धर्म पाल सकते हो!"

हरिकेश अचरजमें पड़ गया और अपनी असमर्थताको व्यक्त करनेके लिए फिर कहने लगा-" प्रभो! मैं तो देव-दर्शन भी नहीं कर सक्ता!"

मुनि हंस पड़े और बोले-" भूलते हो, चाण्डालपुत्र! तुम्हें कोई नहीं रोक सकता। तुम चाहते हो देवके दर्शन करना तो अपने

अन्तरको शुद्ध बनाओ। अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि सद्व्रतोंका पालन जो कोई करता है वही उच्च है, देवता है, ब्राह्मण है। इन व्रतोंका पालन करनेसे हृदय इतना पवित्र होता है कि सच्चे देवके दर्शन वहीं होते हैं!"

हरिकेशको अब कुछ होश आया, वह भी मनुष्य है, उसे भी धर्म पालना चाहिये। उसने पूछा—"तो नाथ! क्या मैं धर्म पाल सक्ता हूं?"

मुनिने उत्तर दिया—"क्यों नहीं वत्स! जीवोंको मत मारो, तुमसे बने उतनी उनकी सेवा करो; झूठ कभी मत बोलो, हमेशा हितमित वचन बोलो, चोरी मत करो, पराई वस्तु भूलकर भी न लो, पूरे ब्रह्मचारी बनो, जगतकी स्त्रियोंको मां बहन समझो और पक्के संतोषी रहो, एक धेलेकी भी आकांक्षा न करो! बोलो, इन बातोंको करनेसे तुम्हें कौन रोक सक्ता है? कोई नहीं, यही धर्म-पालन है!"

मुनिमहाराजके इस धर्मोपदेशका प्रभाव हरिकेशपर खूब ही पड़ा। उसने जैन धर्मकी दीक्षा लेली और वह उन मुनिके पास रहकर ज्ञान-ध्यानका अभ्यास करने लगा और खूब ही उसने तप तपा। अब वह हरिया चाण्डाल नहीं था, उसे लोग महात्मा हरिकेश कहते थे। महात्मा हरिकेश रूपमें उसकी प्रसिद्धि भी चहुंओर होगई थी।

(२)

महात्मा हरिकेश विहार करते हुये एक दिन तिंदुक नामके एक बगीचेमें आ विराजमान हुये। और वहांपर ठहरकर उग्र तप

तपने लगे। बगीचेमें एक यक्षमंदिर था । यक्षने हरिकेशको देखा और उनके उग्र तपको देखकर वह उनका भक्त होगया।

उसी समय उस नगरके राजाकी पुत्री भद्रा अपनी सखियों सहित वायुसेवनके लिये वहां आ निकली। भद्राने तो नहीं, परन्तु उसकी सखियोंने हरिकेशको ध्यानमें मग्न बैठा देखा । वे सब उनके पीछे लग गईं, तरह२के कामभाव दर्शाकर वह उन्हें सताने लगीं। वे एक दूसरेसे हरिकेशको उनका पति बतातीं और चुहल करतीं थीं। भद्राने भी यह देखा । उसने उन्हें झिड़का और कहा कि "कहीं ऐसा कुरूपी किसीका पति होगा ?"

हरिकेशने न भद्राके वचन सुने और न सखियोंकी करनीपर ध्यान दिया। वह अपने ध्यानमें निश्चल रहे । सचमुच वह जितेन्द्रिय थे। स्त्रियोंकी कामुकता उनका कुछ भी न बिगाड़ सकी। महाभट कामको उन्होंने चारों खाने चित्त पछाड़ मारा था। धन्य थे वह महानुभाव! चाण्डालके घर जन्म लेकर भी वह पूर्ण ब्रह्मचारी हुये।

किन्तु महात्मा हरिकेशके भक्त यक्षसे स्त्रियोंकी उपरोक्त करतूत सहन नहीं हुई। उसने भद्राको कुरूपा बना दिया। यह बेचारी बड़ी घबड़ाई; पर आखिर करती क्या ? होना था सो होगया! हां, हरिकेशका माहात्म्य उसके दिलपर असर कर गया।

राजपुरोहित (ब्राह्मण) के साथ भद्रा ब्याह दी गई। इधर हरिकेश उग्रोग्र तप तपने लगे, जो भी सुनता उनके तपश्चरणकी मुक्तकंठसे प्रशंसा करता।

राजकुमारी भद्रा और उसका पति राजपुरोहित वैदिक-

धर्मानुयायी थे। उन्होंने सोचा कि भगवानकी देन है, खूब भरेपूरे हैं। आओ, दानपुण्यमें कुछ खर्च करें! चंचल लक्ष्मीको सुकृतमें लगाकर यश और पुण्य दोनों प्राप्त करें। इष्टमित्रोंसे सलाह करके उन्होंने एक महायज्ञ रचना बिचारा और तदनुसार उन्होंने सब प्रबन्ध किया। लोगोंने चारोंओर धूम मचा दी कि राजकुमारी भद्राने बड़ा भारी यज्ञ मांड़ा है। बड़ी२ दूरसे सैकड़ों ब्राह्मणगण आये हुये यज्ञ सम्पन्न कर रहे हैं।

सचमुच एक बड़ेसे मण्डपमें सैकड़ों ब्राह्मण पंडित बैठे हुये अग्निहोत्र पढ़ रहे थे। धूम्रमय अग्निकी ज्वाला बलिवेदीसे उठकर आकाशसे बातें कर रही थी। मांस लोलुपी जीव उसको देखकर भले ही प्रसन्न होते हों, परन्तु उसमें जीवित होमे जानेवाले पशुगण उसको देखकर थर थर कांप रहे थे। वे बेचारे पशु थे तो क्या? उनके भी प्राण थे और प्राणोंसे प्रेम होना स्वाभाविक ही है। किन्तु इस बातको देखनेवाला वहां कोई नहीं था।

वहांकी एक खास बात और थी। लोगोंको हिदायत थी कि शूद्र-चाण्डाल आदि कोई भी नीच समझे जानेवाले लोग यज्ञके पाससे न निकलने पावें। वेदश्रुतिकी ध्वनि उनके कानोंमें न पड़ने पावे। कैसी विडम्बना थी वह! वह धर्मकी ध्वनि थी तो उसे प्रत्येक मनुष्य क्यों न सुने? शूद्र चाण्डालादि यदि अपनी हिंसक आजीविकाके कारण अछूत थे तो पशु होमकर प्राण लेना क्या वैसा ही निंद्य कर्म न था?

चाण्डाल महात्मा हरिकेश वहीं पासमें तप तप रहे थे। एक

महीनेका उपवास उनका पूरा हुआ था. वह पारणाके लिए नगरकी ओर चले। रास्तेमें जाते वह भद्राके यज्ञमण्डपके पास जानिकले। ब्राह्मणोंने देखा कि वह चाण्डाल है, अछूत है। वे क्रोधके मारे लाल पीले होगए और बोले-"कम्बख्त! धर्मकर्मका नाश करते तुझे जरा भय नहीं है। चल हट यहांसे, नहीं तो तेरी खैर नहीं है।"

महात्मा हरिकेशपर इन कटुवचनोंका कुछ भी असर न हुआ। वह तो अपने वैरीका भी भला चाहते थे। उन ब्राह्मणोंको सत्यका मर्म सुझाना उन्हें उचित प्रतीत हुआ। आखिर निरपराध जीवोंका वध क्यों हो? क्यों मनुष्य भ्रान्तिमें पड़कर अधर्मका संचय करें? जैन मुनि अज्ञान अंधकारको मेंटना अपना परम कर्तव्य समझते हैं। म० हरिकेशने अपना मौन भङ्ग कर दिया। वह बोले-"विप्रो! जातिका घमंड व्यर्थ है और प्राणियोंकी हिंसामें कभी धर्म हो नहीं सक्ता, यह निश्चय जानो।"

विप्रोंकी क्रोधाग्निमें इन वचनोंने घीका काम किया। वे गालियां सुनाते हुये बोले-"चल-चल, तू जातिका चाण्डाल क्या जाने ब्रह्मकी बातें? ब्रह्मको ब्राह्मण ही जानते हैं।"

म० हरिकेश अहिंसक सत्याग्रही थे, उन्होंने गालियोंकी कुछ भी परवा न की, बल्कि वह कहने लगे कि-"भाई! ठीक है, परन्तु ब्राह्मणोंके घर जन्म लेनेसे कोई ब्रह्मको नहीं जान जाता। आज लाखों ब्राह्मण मिलेंगे जो आत्मज्ञानकी 'ओनम' भी नहीं जानते। सचमुच गुणोंसे मनुष्य ब्राह्मण और देवता बनता है। पूर्ण अहिंसक ब्रह्मचारी ही सच्चा ब्राह्मण होता है।...

हरिकेशकी बात काटकर सब लोगोंने चिल्लाकर कहा—" चुप रहो! ब्रह्मके दर्शन ब्राह्मण ही करता है। जाओ, धर्मानुष्ठानमें विघ्न मत डालो।"

हरिकेशने शांति और दृढ़तापूर्वक कहा— 'सच कहते हैं आप, ब्राह्मण ही ब्रह्मके दर्शन कर सक्ता है, पर ब्राह्मण वही मनुष्य है जो निरंतर ब्रह्ममें चर्या करता है, जिसकी दृष्टि बाह्य रूप और नाम पर नहीं अटकी है, बल्कि जो सदैव चिन्मुक्त परमात्माके ध्यानमें लीन है वह ब्राह्मण है। परमात्मा-पद वर्ण और जातिसे रहित है, इस कथाको तुमने क्या नहीं सुना है?"

सब बोले—' कौनसी कथा? चल हट, हमें फुरसत नहीं है कथा कहनेकी।"

हरिकेश बोले—अच्छा भाई! मत कहो कथा। पर सुनो तो सही। क्या वैदिक जगतमें यह प्रसिद्ध नहीं है? देखो एक भक्त शिवजीकी उपासना करने चला और उसने स्तुति वन्दना करके यह प्रार्थना की कि मैं खूब धनवान होऊं और नैवेद्य चढ़ा दिया। फिर भी असंतोषी हो वह शिवप्रतिमाकी ओर ताकता रहा। शिवजीको उसका यह असंतोष बहुत अखरा। उन्होंने उसे शिक्षा देनेकी ठान ली। भक्तने देखा, शिवजीके सामने उसका चढ़ाया हुआ नैवेद्य नहीं है। उसे अचम्भा हुआ। उसने फिर नैवेद्य चढ़ाया और एक ओर हटकर देखने लगा कि उसे कौन लेता है। इतनेमें एक पुलिन्द—म्लेच्छ धनुष-बाण लिए आया और नैवेद्य हटाकर उसने भक्तिभावसे अपने फल फूल चढ़ा दिये। शिवजी उस पुलिन्दकी निष्काम भक्तिसे प्रसन्न होकर उससे साक्षात् हो बातें करने

लगे। इसपर उस भक्तको बड़ी ग्लानि हुई और वह कहने लगा कि "देवता भी कैसे होगए हैं कि एक पुलिन्द नीचकी पुष्पांजलिसे तो प्रसन्न होगए और मुझ कुलीन ब्राह्मण भक्तके कीमती नैवेद्यपर ध्यान भी न दिया। खैर, कल मैं भी फूलपत्ती ही लाऊंगा।"

दूसरे दिन वह भक्त शिवजीको फूलपत्ती चढ़ाने आया। परन्तु देखा कि शिवजीकी एक आंख नहीं है। चटसे वह बड़बड़ाया। 'यह कलकी दुश्चेष्टाका दुष्परिणाम है। नीच पुलिन्दसे मुंह चलाना कहीं देवताओंका काम है। खैर, एक आंख तो बची।' और उसने अपनी मनोकांक्षा प्रगट करके फूलपत्ती चढ़ादी। शिवजी अब भी उससे प्रसन्न नहीं हुए। भक्त निराश होकर एक ओर जा बैठा। इतनेमें नीच पुलिन्द आया। उसने भी शिवजीकी एक आंख देखी। चटसे उसने तीर लिया और अपनी आंख निकालकर उनको लगा दी! भक्तिकी हद होगई। शिवजीने प्रसन्न होकर उस पुलिन्दको गले लगा लिया और उस कुलीन भक्तको जो नाममात्रका भक्त था खूब झिड़का। बस भाई, समझो, देवता भी गुणोंके प्रेमी हैं, वह जातिपांति नहीं देखते। सचमुच हरको भजे सो हरका होय, यह उक्ति सोलह आने सच है।"

वे सब लोग अपने धैर्य खो बैठे थे, एक चाण्डाल उनके यज्ञमें इतना उपद्रव मचाये, यह वे भला कबतक बरदाश्त करते। म० हरिकेशकी नपीतुली बातोंका कायल उनका दिल भले ही हुआ हो, परन्तु मस्तक अब भी नहीं नमा था। उसपर मानके पहाड़का बोझ लदा था, वे हड़बड़ा कर उठे और ढेलों पत्थरोंको फेंककर हरिकेशको

हटानेका उद्यम करने लगे। बाहरी नृशंसता! तेरा आसरापर सत्याग्रही वीर हरिकेशको वह भी न डिगा सकी, वह अडग रहे।

(५)

राजकुमारी भद्रा म० हरिकेशके चरणोंमें मस्तक नमाये बैठी कह रही थी—"नाथ! मुझ अपराधिनीको क्षमा कीजिये। मैं धर्मके मर्मको न समझ सकी थी, आप दीनोद्धारक हैं। आपने अपने प्राणोंकी बाजी लगाकर इन पशुओंकी रक्षा की है और हम अधमोंका उद्धार किया है। भले ही बड़े घरोंमें हमने जन्म लिया था परन्तु हमारे हाथ निरपराध प्राणियोंके खूनसे लाल होरहे थे। हम महान् पापी थे, उसपर भी हमें अपनी जातिका बड़ा भारी अभिमान था। आपने उस अभिमानके शतखण्ड करके हमें सुबुद्धि प्रदान की है। चाण्डाल नहीं, आप परमपूज्य महात्मा हैं, हम सब आपकी शरणमें हैं। प्रभो! क्षमा कीजिए हमारे अपराध और हमें कल्याण मार्गमें लगाइए।"

म० हरिकेश बोले—"भद्रा! तू धर्मात्मा है, मेरा कुछ भी किसीने नहीं बिगाड़ा है। धर्म ही एक शरण है। आओ, उसकी शीतल छायामें बैठो और अपना तथा प्रत्येक प्राणीका भला करो।"

कहना न होगा कि राजकुमारी भद्रा और उसके साथियोंने म० हरिकेशके निकट धर्मकी दीक्षा ली! अब वे सब जातिमदसे परे थे और हर किसीसे कहते थे:—

'ब्रह्मचर्येण सत्येन तपसा संयमेन च।
मातंगऋषिर्गतः शुद्धिं न शुद्धिस्तीर्थयात्रया॥'

शूद्र जातीय धर्मात्मा !

'एहु धम्मु जो आयरइ बंभणु सुद्दवि कोइ।
सो सावउ, किं सावयहं अण्णु कि सिरि मणि होइ ॥'

—श्री देवसेनाचार्य।

" इस (जैन) धर्मका जो आचरण करता है, ब्राह्मण चाहे शूद्र, कोई भी हो, वही श्रावक (जैनी) है। और क्या श्रावकके सिर पर कोई मणि रहता है ?"

कथायें:—

१—सुनार और साधु मेतार्य।
२—मुनि भगदत्त।
३—माली सोमदत्त।
४—शूद्रा कन्यायें।

सुनार और साधु×

(१)

राजगृहनगरमें एक सुनार रहता था। वह अपने कर्ममें बड़ा ही कुशल था। राजा श्रेणिक सारा गहना-गाथा उसीसे घड़वाते थे। एकदिन श्रेणिकने जिन पूजाके लिये सोनेके १०८ फूल बनवानेके लिये उसे सोना दिया। सुनार जिनेन्द्र भक्त था। वह बड़े चावसे फूल बनाने लगा।

एकदिन वह सुनार बैठा २ फूल घढ़ रहा था कि इतनेमें उसने देखा कि एक साधु उसके घरकी ओर आहारचर्याके लिये आरहे हैं। भक्तवत्सल सुनारने फूलोंका घढ़ना छोड़ दिया। वह दौड़ा दौड़ा गया और उसने साधुको भक्तिपूर्वक आहार प्रदान किया। साधु अपने रास्ते गये और सुनार अपनी दुकानपर आ बैठा।

किंतु दुकान पर बैठते ही उसने देखा कि एक सोनेका फूल गायब है। सारी दुकान उसने ढूंढ डाली; परन्तु सोनेका फूल कहीं नहीं था। वह सोचने लगा कि 'यहां कोई भी दूसरा आदमी नहीं आया जो फूल लेजाता। हां, साधु जरूर यहांसे निकले। हो न हो सोना देखकर उनका मन डिग गया। वह ही फूल उठा ले गये। चलो, उन्हींको पकड़ूं! दुनियां कैसी पाखंडी है। धर्मकी ओट लेकर लोग कैसे २ अनर्थ करते हैं। इस पाखंडीको ठीक मजा चखाना चाहिये।'

× 'सामायिकना प्रयोगो' पृ० १४ पर वर्णित कथाके आधारसे।

सुनार यह विचारते ही दुकानसे नीचे उतरा और उस ओरको धर दौड़ा जिधरको साधु गये थे । बाजारके एक छोर पर वह उसे मिल गये । उसने पुकार कर कहा—'सुनो तो महाराज! बड़ा अच्छा भेष बनाया है आपने। रोजगारका ढंग बड़ा अच्छा है। अब वह फूल मेरे हवाले कीजिये, नहीं तो खैर नहीं है।'

साधुको वस्तुस्थिति समझनेमें देर नहीं लगी। उन्होंने अपने ऊपर उपसर्ग आया जानकर मौन धारण कर लिया और चुपचाप वहींके वहीं खड़े होगये। सुनार उनको चुप देखकर और भी आगबबूला होगया। उसे अब पूरा विश्वास होगया कि फूल साधुके पास है; तब ही तो वह चुपचाप खडा है। सुनार उन्हें उल्टी सीधी सुनाने लगा। जब इतनेसे भी उसे संतोष न हुआ तो उसने साधुके सिर पर ऐसी टोपी चढ़ा दी जो धूप लगनेसे सिकुड़ती जाती थी और साधुको असह्य वेदना देती थी। साधु ध्यानमें स्थिर चित्त थे। किंतु देखो सुनारकी बुद्धिको! जरासे सोनेने उसे बुद्धिहीन बना दिया, उसकी भक्ति काफूर होगई और पशुता उसमें जागृत होगई। धन है ही बुरी बला।

कड़ी धूपमें साधु खड़े थे। पैरों नीचे धरती जल रही थी और सिर पर चढ़ी टोपी ज्यों २ सुकड़ती त्यों २ माथा फाड़े डाल रही थी। उसकी प्राणशोषक असह्य वेदनाको वह साधु समताभावसे सहन कर रहे थे। वह अहिंसक वीर थे। स्वयं सारे कष्ट सहलेंगे; परन्तु किसीको भी जरा पीड़ा नहीं पहुंचायंगे। उधर सुनार सोनेके लोभमें अंधा हुआ इस इन्तजारमें था कि मेरी मारसे घबड़ा कर

इनसे अभी सोनेका फूल निकल आता है। प्रकाश और अंधकार! पुण्य और पाप! दोनोंका नंगा नाच वहां होरहा था!

× × × ×

(२)

उन साधुका नाम मेतार्य था। अपने एक पूर्व भवमें वह श्रावस्ती नगरीमें यज्ञदत्त नामके ब्राह्मण थे। कदाचित् उन्हें सांसारिक वैभवसे घृणा होगई। धनसम्पदासे मोह छूट गया। उन्होंने आर्हती दीक्षा ग्रहण कर ली। वह साधु होगये, तप तपने लगे, किंतु एक बातका त्याग वह न कर सके। कुलमदका नशा उनके पुनीत भेषमें चंद्रमाके कलंकके समान दिखता था। जन्मके वह ब्राह्मण; भला कैसे अपने कुलकी मर्यादाका ध्यान छोड़ दें! किंतु उन्होंने यह न जाना कि अर्हती दीक्षामें समभाव ही प्रधान तत्व है। एक अर्हत् भक्त यह निश्चय जानता है कि उसका आत्मा वर्ण और कुल रहित एक विशुद्ध द्रव्य है। संसारमें भटकता हुआ कर्मकी विडम्बनामें पड़ा हुआ वह नाना प्रकारके शरीर धारण करता है। आज जो ब्राह्मणके शरीरमें है कल वही महतरके शरीरमें दिखाई पडेगा; और फिर महतर ही क्यों? यदि वह दुष्कर्म करने पर ही उतारू है तो पशु और नर्क गतियोंके दारुण दुःख भोगनेको उनमें जा जन्मेगा अब भला कोई कुल या जातिका घमंड क्या करे? किंतु यज्ञदत्त इस सत्यको न समझ सका। वह कुलमदमें मस्त हुआ, मरा और हीन जातिका देव हुआ। तथा देव आयुको पूरी करके इसी भारतमें उसे एक हरिजन (अछूत शूद्र) के नीच कुलमें जन्म लेना पड़ा। किया हुआ कर्म अपना फल

दिखाकर ही रहता है। उच्चताके घमंडने उसे स्वयं नीचा बना दिया।

किंतु पूर्वभवमें उसने तप भी तपा था, वह अकारथ कैसे जाता? उसने अपना असर दिखाया। पुण्योदयसे उसी ग्राममें धनदत्त नामका एक सेठ रहता था। उसकी स्त्रीके उसी समय एक पुत्री हुई थी। सेठने उस पुत्रीको उपरोक्त हरिजन पुत्रसे बदल लिया और उसका नाम मेतार्य रख दिया। सारी दुनियां मेतार्यको सेठ धनदत्तका पुत्र समझती थी।

श्रेणिकने अपनी एक राजकुमारीका विवाह मेतार्यसे किया था। उस विवाहका बड़ा भारी उत्सव राजगृहमें हुआ था, एक दिन शामको सेठ धनदत्तके घरके सामने नाचरंग होरहा था। लोग देखने आरहे थे। मेतार्यकी असली माता-पिता भी देखने चले आए।

मेतार्यकी हरिजन माताने जब अपने पुत्रका ऐसा महान सौभाग्य और ऐश्वर्य देखा तो वह फूले अंग न समाई। माताका स्नेह उसके उमड़ पड़ा। उसकी छातीमें दूध भर आया और वह छलछल करके बाहर निकल पड़ा। मातृस्नेहमें वह पगली होगई। मेतार्यने भी लोगोंके साथ यह सब कुछ देखा। उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। मांकी ममता ही ऐसी होसकती है; परन्तु यह कौन कहता कि मेतार्यकी यथार्थ मां वही हरिजन है? मेतार्य असमंजसमें पड गया।

× × × ×

(३)

भाग्यवशात् त्रिकालदर्शी भगवान महावीर विहार करते हुये मेतार्यके नगरकी ओर आ पहुंचे। मेतार्यने भी भगवानका शुभागमन सुना। वह उनकी वन्दना करनेके लिये गया, और उन

त्रिकालदर्शी भगवान् महावीरसे उसने अपनी शंका निवेदन की। भगवानने मेतार्यको उसके सब ही पूर्वभव सुना दिये। उनको सुनकर मेतार्यका हृदय चोटल हुआ, संसारसे घृणा होगई, उसे जातिस्मरण हो आया और अपने पूर्वभवके कुलमदपर उसे बड़ा पश्चाताप हुआ। वह विचारने लगा कि—

'नाहं नारकी नाम, न तिर्यक् नापि मानुषः।
न देवः किन्तु सिद्धात्मा सर्वोऽयं कर्मविभ्रमः॥'

"मैं नारकी नहीं हूं, तिर्यंच नहीं हूं, मनुष्य नहीं हूं और नहीं ही देव हूं, क्योंकि ये सब तो कर्मपुद्गलके विभ्रम हैं! मोहमें पड़ा हुआ मैं अपनेको मनुष्य और ब्राह्मण समझनेके भ्रममें पड़ा था। वस्तुतः निश्चयरूपमें मैं सिद्धात्माके समान हूं।"

इस प्रकार वैराग्यचित्त होकर मेतार्यने अपने पिता धनदत्तसे आज्ञा ली और वह साधु होगया। अब वह साधु मेतार्यके नामसे प्रसिद्ध हुए। सुनारने इन्हीं साधुपर महान उपसर्ग किया। नीचकुलमें जन्म लेनेपर भी अपने पूर्वसंचित चारित्रजनित दृढ़ताके प्रभावसे वह अच्छे तपस्वी हुये। कुलमद अब उन्हें छू भी नहीं गया था।

× × × ×

(४)

सुनार बैठा इन्तजार ही करता रहा कि अब साधु कबूलें और फल मिले, परन्तु उधर लीली टोपी इतनी संकुचित हुई कि उसने साधु मेतार्यके माथेके दो टूक कर दिये। माथेके दो टूक हुये, शरीरकी स्थिति क्षीण-हीन होगई; परन्तु मेतार्यका आत्मशौर्य अपूर्व और निश्चल था। वह सद्गतिको प्राप्त हुये। धन्य थे साधु मेतार्य!

उधर जब साधु मेतार्यका माथा फटा तो उससे एक बड़ी आवाज हुई। उसको सुनकर पासवाली छतपरसे पंख फड़फड़ाकर एक क्रौंच पक्षी उड़ा और उसकी चोंचसे छूटकर सोनेका फूल सुनारके आगे आ गिरा! सुनार यह देखकर स्थंभित होरहा, उसके काटो तो खून न था! अब उसे अपनी गलतीका भान हुआ—अपनी नृशंसता देखकर उसका हृदय टूक टूक होरहा था। वह खूब ही पश्चाताप करने लगा और अपने कृत पापसे छूटनेके लिये वह जिनेन्द्र भगवान्की शरणमें पहुंचा। सुनार साधु हो गया और आत्मशोध करने लगा। परिणामस्वरूप वह समाधिमरण कर उच्च गतिको प्राप्त हुआ!

साधु मेतार्य चाहते तो क्रौंचपक्षीका पता बताकर अपने प्राण बचा लेते; किन्तु वे तो अहिंसक वीर थे। अपने स्वार्थ-शरीर मोहके लिए वह क्रौंचपक्षीके प्राणोंको कैसे संकटमें डालते? सुनार उसे पकड़ता, मारता। उसे भी पाप लगता। उधर क्रौंचपक्षी रौद्र परिणामोंसे मरता तो और भी दुर्गतिमें जाता! उत्तरोत्तर सबका ही बुरा होता! एक जैन मुनि भला कैसे किसीका बुरा करे? वह तो समताभावका उपासक है और उसके लिये अपना सर्वस्व अर्पण करनेके लिए तत्पर रहता है। साधु मेतार्यने इस सत्यको मूर्तिमान बना दिया। धन्य थे वह!

[२]

मुनि भगदत्त ! ×

(१)

बनारसमें चंद्रवंशी राजा जितारि राज्य करता था । कनकचित्रा उसकी रानी थी । उनके एक पुत्री हुई । उसका नाम उन्होंने मुंडिका रक्खा ! मुंडिकाको मिट्टी खानेकी बुरी आदत पड गई थी; जिसके कारण वह सदा बीमार रहती थी ।

मुंडिका स्यानी होगई थी । एक रोज वह वायु सेवनके लिये बाहर बगीचेमें गई । वहां उसकी भेंट वृषभश्री नामक जैन स्वाध्वीसे होगई । वृषभश्रीने उसे धर्मका स्वरूप समझाया और वह जैनी होगई । उसने अभक्ष्य वस्तुओंको भक्षण न करनेका नियम ले लिया । व्रत संयमको पालनेसे उसका जीवन स्वस्थ्य होगया । वह अब एक अनुपम सुन्दरी थी ।

राजाने मुंडिकाको विवाह योग्य देखकर उसका स्वयंवर रचा । दूर दूरसे राजा महाराजा आये । मुंडिकाने सबको देखा, परन्तु उनमें उसे कोई भी पसंद नहीं आया । उसने किसीके गलेमें भी वरमाला नहीं डाली । वेचारे सब ही अपने २ देशोंको निराश होकर लौट गये । मुंडिका धर्मसेवन करती हुई जीवन विताने लगी ।

(२)

तुंड देशका राजा भगदत्त था । चक्रकोट उसकी राजधानी थी । राजा भगदत्तका जैसा बड़ा चढ़ा वैभव था, वैसा ही वह

× 'सम्यक्त्व कौमुदी' पृ० ,२ पर मूल कथा दी हुई है ।

श्रद्धानशील था। किंतु वह था हीन जातिका। दूसरे क्षत्री राजा उसे नीची दृष्टिसे देखते थे। राजा बन जानेपर भी उसकी जातिगत हीनताको वे लोग नहीं भूले थे। कुल और जातिके घमंडका यह दुष्परिणाम था।

भगदत्तने मुंडिकाके सौंदर्यकी बात सुनी। उसने जितारिसे उसे मांगा। जितारिने कहला भेजा कि 'जब अच्छे २ राजकुमारोंके साथ तो मुंडिकाने ब्याह किया नहीं तो तुझ नीचके—ओछी जातिके पुरुषके साथ उसका ब्याह कैसे होसक्ता है? खबरदार, अब मुंडिकाका नाम मुंह पर मत लाना।'

भगदत्तने फिर दूत भेजकर जितारिसे निवेदन किया कि "वस्तुतः मनुष्यमें गुण होना चाहिये। जाति कोई भी हो, उससे कुछ लाभ नहीं। मुंडिकाका ब्याह मेरे साथ कर दो इसीमें तुम्हारी कुशल है।"

जितारि भगदत्तके इस संदेशको सुनकर आगबबूला होगया। उसने दूतसे कहा कि "जाओ, भगदत्तसे कह दो कि राजा जितारि उसकी मनोकामना युद्धमें पूरी करेंगे।"

जितारिका यह उत्तर पाते ही भगदत्तने युद्धके लिये तैयारियां प्रारम्भ कर दीं। उसके मंत्रियोंने उसे बहुत कुछ समझाया और बतलाया कि मैत्री और सम्बन्ध बराबर वालोंका ही शोभता है, राजाको हठ नहीं करना चाहिये! किन्तु भगदत्तको उनके यह बचन रुचे नहीं। उसने कहा—"जितारिको अपने क्षत्रीपने—उच्चजातिका घमंड है। इस घमंडको यदि मैं चूर-चूर न करूं तो लोक मुझे गुणी कैसे जानेगा और कैसे आदर करेगा? लोकमें गुणवान होकर जीना ही सार्थक है। क्या तुमने यह नीतिका वाक्य नहीं सुनाः—

'यज्जीव्यते क्षणमपि प्रथितैर्मनुष्यैः,
विज्ञानशौर्यविभवार्यगुणैः समेतैः ।
तस्यैव जीवितफलं प्रवदन्ति सन्तः,
काकोपि जीवितचिरं च बलिं च भुंक्ते ।'

"संसारमें एक क्षणमात्र भी क्यों न जीना हो, पर वह जीना उन्हीं पुरुषोंका सफल है जो विज्ञान, शूरवीरता, ऐश्वर्य और उत्तम२ गुणोंसे युक्त हैं और बड़े बडे प्रतिष्ठित लोग जिनकी प्रशंसा करते हैं। यों तो जूठा खाकर कौआ भी जीता रहता है; पर ऐसे जीनेसे कोई लाभ नहीं।"

भगदत्तके दृढ़ निश्चयके सामने मंत्रियोंकी एक भी न चली। वास्तवमें भगदत्तको अपनी विशिष्टता प्रकट करना वाञ्छनीय था। लोग उसे नीच और हीन जातिका कहते ही हैं और बुरी निगाहसे देखते ही हैं, उसे उनकी यह धारणा अपना शौर्य प्रकट करके मिथ्या सिद्ध करना थी। बस, वह शीघ्र ही अपना लाव-लश्कर लेकर बनारसकी ओर चल पड़ा।

(३)

घमंडका सिर नीचा होता है। प्रकृति अन्यायको सहन नहीं करती। जितारिके जातिमदने उसके सर्वनाशका दिन नजदीक ला रक्खा। उसे जरा भी होश न था कि भगदत्त उसपर चढ़ा चला आरहा है। जब उसने बनारसको चारों ओरसे घेर लिया तब कहीं उसे भगदत्तके आक्रमणका पता चला! उसने भी अपनी सेना तैयार करानेकी आज्ञा निकाल दी; किन्तु मंत्रीने उसे समझाया कि शत्रुकी शक्तिका अन्दाज किये बिना ही उसके सन्मुख जा डटना उचित

नहीं है। जितारिके सिर पर तो घमंडका भूत चढ़ा था। वह चटसे बोला–"उस कमीने भगदत्तकी शक्ति ही क्या होसक्ती है? कहां जितारि क्षत्री और कहां वह कमीना? बस उसको प्राण दंड देकर ही मैं कल लूंगा!"

मंत्री चुप हो रहे। राजा जितारि रणचण्डीका खप्पर भरनेके लिए उद्धत सेनाको लेकर नगरसे बाहर निकला। उस समय अकाल वृष्टि हुई, पृथिवी कंप गई और प्रचंड उल्कापात हुआ। इन अपशकुनोंके द्वारा मानो प्रकृति जितारिको सचेत कर रही थी कि घमंड मत करो। गुणोंका आदर करना सीखो। परन्तु जितारि मानके घोड़ेपर सवार हो अंधा बना हुआ था। वह भगदत्तसे जा भिडा। दोनों सेनायें जूझने लगीं। मारकाटसे रणभूमि लाल–लाल होगई। देखते ही देखते भगदत्तकी सेनाने जितारीकी सेनाको तितर–वितर कर दिया। उसके पैर उखड़ गये और वह खेत छोड़कर भागने लगी। भगदत्तने जितारिको अब भी सचेत किया, परन्तु उसका काल सिरपर मडरा रहा था। उसने भगदत्तकी बात नहीं सुनी। भगदत्त क्रोधसे कांप उठा और उसपर कड़े वार करने लगा। जितारि उसके वार सहन न कर सका और प्राण लेकर भाग खड़ा हुआ। भगदत्त तब भी उसका पीछा नहीं छोड़ता था; किन्तु मंत्रियोंके समझानेसे उसने भागते हुए जितारिको छोड़ दिया।

भगदत्तकी सेनाने विजय घोष किया। और उसने सगर्व बनारसमें प्रवेश किया।

(४)

मुंडिकाने सुना कि उसका पिता युद्धमें परास्त हुआ है, जमीन

उसके पैरों तलेसे खिसक गई। उसने सोचा कि 'भगदत्तने जिस लिये यह युद्ध ठाना था उसे अब वह अवश्य पूरा करेगा-बलात्कार वह मुझसे व्याह करेगा। किन्तु नहीं, मैं ऐसा कदापि नहीं करुंगी। मैं स्त्री हूं तो क्या? मेरी इच्छाके विरूद्ध किसकी सामर्थ्य है जो मुझसे व्याह करेगा? मैं व्याह नहीं करुंगी-किसीके भी साथ! मैं अशरण शरण जिनधर्मकी शरणमें जाऊँगी। वही तो जगतमें सच्ची त्राण है। आजन्म अखंड शीलधर्मका पालन करूँगी।' अपने इस निश्चयके अनुसार वह एक जैन साध्वीके पास पहुंची और साधु-दीक्षा ले भिक्षुणी होगई।

बनारसमें प्रवेश करनेपर भगदत्तने मुंडिकाका सारा वृतान्त सुना; जिसे सुनकर उसका हृदय दयासे भीज गया। वह दोड़ा दोड़ा गया और मुंडिकाके पैरों पड़कर उससे क्षमा मांगने लगा। सच है गुणी ही गुणका आदर कर सक्ता है। भगदत्त हीन जातिका होने-पर भी गुणवान था। मुंडिकाके धार्मिक निश्चयने भगदत्तके हृदयको नमा दिया। उसे वैराग्यसे परिपूर्ण कर दिया। जितारिके पुत्रको उसने बनारसका राजा बनाया और वह स्वयं जैनधर्मकी शरणमें पहुंचा-जैन साधु होगया। उसने उग्रोग्र तप तपा, जिससे उसकी प्रसिद्धि चहूं ओर होगई और लोग अभीवन्दना करके अपने भाग्यको सराहते थे। अब यह कोई नहीं कहता था कि भगदत्त हीन जातिका है-उसे कौन माने। क्षमा, शील, शांति, समता प्रभृत गुणोंने भगदत्तको लोकमान्य बना दिया। गुणोंकी उपासना ही सार्थक है।

[३]

माली सोमदत्त और अंजनचोर !*

(१)

राजगृहमें सोमदत्त नामका माली रहता था, और उसी नगरमें जिनदत्त नामक सेठ भी रहते थे। सेठ जिनदत्त जैनी थे, वह प्रातःकाल उठते ही जिन मंदिरोंमें पूजा करने जाते थे। सोमदत्त मालीने देखा कि सेठ जिनदत्त एक चील जसे यंत्रमें बैठे-बैठे घुर-घुर कर रहे हैं। थोड़ी ही देरमें वह चील जैसा यंत्र सर्र-से ऊपरको उड़ गया। मालीने कहा—'अरे! यह तो वायुयान है।' और वह उसकी ओर निहारता रह गया!

सोमदत्त सेठजीको प्रतिदिन उस विमानमें बैठकर उड़ते देखकर आश्चर्यमें पड़ गया। वह सोचने लगा कि 'आखिर सेठजीको ऐसा क्या काम है जो सवेरे ही सवेरे विमानमें बैठकर रोजमर्रा कहीं जाते हैं? धर्मवेलाके समय उनका इस तरह रोजाना जाना रहस्यसे खाली नहीं है। आनेदो आज उन्हें; मैं उनसे पूछूंगा!'

सोमदत्त यह विचार ही रहा था कि सर्र—से सेठजीका विमान उसके सामने आ खड़ा हुआ। मालीने झटसे जाकर सेठजीके पैर पकड़ लिये। सेठजी बेचारे बड़े असमंजसमें पड़े, बोले—'आखिर बात भी कुछ है?'

सोमदत्तने उत्तर दिया—'आप क्षमा करें तो एक बात पूछूं।'

सेठने कहा—'पूछ, तुझे क्या पूछना है?'

---

* आराधनाकथाकोषकी मूल कथाके आधारसे।

सोमदत्तने अपनी शंका उनपर प्रगट करदी; जिसे सुनकर सेठजी खिलखिलाकर हंस पड़े और बोले— बस, "इस जरासी बातके लिए इतना तूमाल!' किन्तु इस जरासी बातमें मालीकी हृदगत धार्मिकता ओतप्रोत थी। वह उसे एक पुण्यात्मा प्रगट करनेके लिये पर्याप्त थी। सेठजीने भी उसकी धार्मिकताको देखा और वे प्रसन्न हो कहने लगे—'प्रिय सोमदत्त, मैं धर्मवेलामें धर्माराधना ही करता हूं। विमानमें बैठकर तीर्थोंकी वन्दना करने जाता हूं, यह मेरा नित्य नियम है।'

धर्मवत्सल सोमदत्त यह सुनकर पुलकितगात्र होगया और बोला—"मालिक, मुझपर भी मिहर होजाय! आपकी जरीसी दयासे मेरा बेडा पार होजायगा!"

सेठ जो दृढ़ सम्यक्ती थे, वह चटसे बोले—हां हां, सोमदत्त तुमने यह बड़ा अच्छा विचारा। जिनेन्द्रकी पूजा भव—भवमें सुखदाई होती है। तुम तो मनुष्य हो, जिन पूजा करके महत् पुण्य संचय कर सक्ते हो। जानते हो, इसी राजगृहमें एक मेंढक था जो जिनेन्द्र पूजाके भावसे एक फूल लेकर तीर्थंकर महावीरके पासको चला था, परन्तु बेचारा रास्तेमें हाथीके पैर तले आकर मरा और पूजाके पुण्यमई भावसे फलस्वरूप देवता हुआ। आओ, मैं तुम्हें विमान बनानेकी विद्या बतादूं, तुम उसे साध कर खूब तीर्थ वंदना और जिन पूजा करो। तुम माली हो तो क्या! तुम्हारा हृदय पवित्र है!"

सोमदत्तने सेठजीसे विमान-विद्याकी विधि जान ली। अब वह उस विद्याकी सिद्धिमें लगगया।

(२)

सोमदत्तने हजारों-लाखों पौधोंको लगाया, बढ़ाया और सँवारा था । उसके हाथके लगे हुए सैकड़ों पेड़ अपने सौन्दर्यसे लोगोंका मन मोहते थे; परन्तु यंत्र-विद्यामें वह अपनेको कुशल सिद्ध न कर सका । कई दिन बीत गये परन्तु लाख सिर धुनने पर भी वह विमानका ढांचा भी न डाल सका ।, अपनी इस असमर्थता पर बेचारा हैरान था तो भी वह हताश न हुआ ।

उस दिन सोमदत्त विमान-विद्या साध रहा था । राजगृहका नामी चोर अंजन उधरसे आ निकला । उसने सोमदत्तसे सारा वृत्तांत पूछा और उसकी कठिनाई जानकर उसने कहा-" भाई, घबड़ाओ मत, मुझे जरा यह विद्या बताओ । मैं इसे अभी साधे देता हूं ।

सोमदत्तने कहा-' भाई, मैं तुम्हें इस विद्याकी विधि एक शर्त पर बता सकता हूं और वह यह कि तुम मुझे विमानमें बैठा कर सारे तीर्थोंकी यात्रा करा दो ।'

अंजन बोला-' अरे, इसके कहनेकी क्या जरूरत थी । विमान बन जाय तो एकबार क्या अनेकबार आपको तीर्थयात्रा करा दूंगा ।

सोमदत्त यह सुनकर प्रसन्न हुआ और उसने चोरको विद्या साधनेकी विधि बतला दी । चोर निःशंक और दृढ पुरुषार्थी था । वह विमान बनानेमें बेसुध हो जुट गया और उसने उसे बना भी लिया; किन्तु उसमें बैठकर आकाशमें उड़ना भी कोई सरल काम

नहीं था ! अंजनने कहा—'आओ भाई सोमदत्त, बैठो यह विमान बन गया ।'

सोमदत्त सीधे-से बैठ गया; परन्तु ज्योंही विमान ऊपरको उठा कि वह घबड़ाने लगा और ऐसा घबड़ाया कि अंजनको विमान चलाना रोकना पडा ! किन्तु अंजन निशङ्क और अभय था, उसे विमानमें बैठकर उडनेमें जरा भी डर न मालूम हुआ।

विमान बन गया, अंजन बैठकर उसमें उडने भी लगा; परंतु फिर भी सोमदत्त अपनी मानसिक दुर्बलताके कारण उससे लाभ न उठा सका । सोमदत्त दुखी था और अंजनको मलाल था ।

(३)

' अरे ! अभी उठा ही नहीं ! भाई, खोल किवाड़ ! '

' .... '

' अरे भाई सोमदत्त ! सुनता ही नहीं ! सोता रहेगा क्या ? देख कितना दिन चढ़ आया । '

' कौन ? भाई अंजन ? इतने तड़के कहां ? '

' कहां कहां ? उठो भी—चलो दिलकी मुराद पूरी होगी ?.'

' कहां चलूं ? '

' जहां मैं कहूं । जल्दी नहा-धो लो । मैं यहां बैठा हूं । '

' अच्छा '—कहकर सोमदत्त माली नहाने चला गया और नहा-धोके वह लौटा तो उसने देखा कि उसका मित्र अंजन बैठा उसका इन्तजार कर रहा है । वह अटपटा होकर बोला—' भाई ' आज तो तुम पहेली बूझ रहे हो । आखिर कुछ तो बताओ, कहां चलूं ?.'

अंजन मुंह चढ़ाके बोला—'मुझपर विश्वास नहीं है, तो लो मैं यह जाता हूं। अब कभी आपको कष्ट...

सोमदत्तने बीचमें ही उसे रोक लिया और कहा—'वाह, इतनी जल्दी नाराज होगए। लो चलो, देर मत करो।'

अंजन खुशी खुशी सोमदत्तको हाथसे पकड़कर ले चला। बाहर एक अच्छी-सी कोठरीमें उसे बैठा दिया और बोला—'भाई, जरा देर तुम इस कोठरीको देखो भालो मैं अभी आता हूँ।'

सोमदत्त कोठरीको देखने लगा। उसमें बैठनेके लिये अच्छे गद्दे-तकिये लगे थे—बढ़िया फर्श बिछा हुआ था। छतमें झाड़-फानूस लटक रहे थे। दीवालोंपर सुन्दर चित्र और निर्मल दर्पण लगे हुये थे। सोमदत्त कोठरीके इस सौंदर्यको देखनेमें मग्न होगया। उसे इसका जरा भी भान न हुआ कि कोठरी हिल रही है—झाड़-फानूस हिल हिलकर खतखता रहे हैं। पृथ्वी करवट थोड़े ही बदल रही थी जो सोमदत्त कुछ और सोचता!

(४)

अंजनने सोमदत्तके कंधेपर हाथ रखकर कहा—'भई खूब! तुमने अभी यह जरासी कोठरी भी नहीं देख पाई! मैं तो अपना सब काम भी कर आया।'

सोमदत्त सिट पिटाकर रह गया। अंजनने उसके संकोचको काफूर करते हुए कहा—'अच्छा भाई! अब चलो, बाहरका वैचित्र्य देखो।"

सोमदत्तने ज्योंही कोठरीके बाहर कदम रक्खा कि वह भौंच-

कासा हो वहीं खड़ा होगया—मानो उसे काठ मार गया हो। अंजन ताली बजाकर हंसने लगा। सोमदत्तको उसका यह वर्ताव अखर गया। वह झुंझलाकर बोला—'यह नटखटी! मेरेपर जादू किया है तुमने। मित्र होकर यह विश्वासघात!'

अंजनने कहा—'विश्वासघात है या प्रतिज्ञा पूर्ति यह अभी मालूम हुआ जाता है। जरा आगे वढ़िये।"

सोमदत्तने अँजनके साथ आगे बढ़कर एक अति रम्य और विशाल जिनमंदिर देखा। वह स्वर्ण शैलपर बड़ा ही मनोहर दिखता था। इस दिव्य दृश्यको देखते ही सोमदत्त अपनेको संभाल न सका। वह अंजनसे लिपट गया और पूछने लगा—'भाई, तुम मुझे कैसे किस तीर्थमें ले आए! तुम बड़े अच्छे हो!'

अंजन बोला—नहीं नहीं, मैं बुरा हूँ। ले कहां आया? देखते नहीं यह मेरुपर्वत है और यह वहांका जिन चैत्यालय। विमानमें बैठकर तुम यहां आए हो!'

'हैं! विमानमें बैठकर? वह कोटरी विमान थी!' पूछा सोमदत्तने आश्चर्यचकित हो!

अंजनने उत्तर दिया—खुले विमानमें आपका जी घबड़ाता था। इसलिये मैंने विमानको कोटरीके रूपमें पलट दिया!'

अंजनको छातीसे लगाकर सोमदत्तने कहा—'भाई! तुम धर्मात्मा हो। तुम्हारा उपकार मैं कभी नहीं भूल सकता। चलो, अब जिनेन्द्रकी पूजा करके अपना जन्म सफल करें!'

(८)

निर्ग्रंथ गुरु बिराजमान थे और उन्हींके निकट सेठ जिनदत्त बैठे हुये थे। देवपूजा करके अंजनचोर और सोमदत्त माली वहां पहुंचे। उन्होंने पहले सेठजीको नमस्कार किया और बादमें गुरु महाराजको! देखनेवाले उनके मुंहकी ओर ताकने लगे। सेठ जिनदत्तसे न रहा गया। उन्होंने कहा—'मूर्खों! तुम्हें यह भी तमीज़ नहीं कि पहले गुरु महाराजकी वंदना की जाती है।

अंजनने विनयपूर्वक कहा—' हमने अपने गुरुकी ही पहले वंदना की है। सेठजी! यदि आप दया करके जिनपूजाका महत्व और विमान विद्या सोमदत्तको न बताते तो हमसे दीन-हीन पापपंकमें लिप्त आत्माओंका भला कैसे होता? कैसे हम यहां पहुंचते? आप ही हमारे सच्चे हितैषी हैं।" .

गुरुमहाराजने कहा—'ठीक कहते हो, अंजन! लोक भेष और रूपकी पूजा करनेका दंभ करते हैं, परन्तु नंगे होकर जंगलमें जा बैठनेसे न कोई साधु होता है और न कोई शरीरसे हीन, व कुरूप होनेसे ही कोई पापी नहीं होता और न सुन्दर शरीर और उच्च जातिको पाकर कोई धर्मात्मा होजाता है। मनुष्यमें पूज्यत्व और बड़प्पन गुणोंसे आता है और गुणोंकी वृद्धि उनका विकास करनेसे होती है। सेठ जिनदत्त गुणवान महानुभाव हैं और तुम दोनों यद्यपि लोकमें नीच और हीन कहे जाते हो, परन्तु तुम हो भव्य धर्माकांक्षी! गुणोंका आदर करना तुम जानते हो। और आदर—विनय करना ही धर्मका मूल है। सिद्धसे पहले अरहंतकी विनय

करके हम गुणग्राहकता और कृतज्ञ भावका महत्व प्रगट करते हैं। तुमने भी आज यही किया है। भाई ! अपने परिणामोंको और भी उज्ज्वल बनानेका प्रयत्न करो। यह शरीर नाशवान् है। दुनियांकी सम्पत्ति क्षणिक है—स्त्री पुत्र आदि संबन्धी मतलबके साथी हैं। उनमें क्या पगे हो ? हृदयके संकोचको दूर कर दो—सारे विश्वको अपना कुटुम्ब बना लो और निर्द्वन्द्व होकर आत्म—शौर्य प्रकट करनेमें लग जाओ। क्या कहते हो, अंजन ! है हिम्मत ? अभी तक चोर रहे ? अब चोरको दण्ड देनेका उद्यम करो !"

अंजन मुनिराजके पैरोंमें पड़कर बोला—"प्रभू ! आप सत्य कहते हैं। आशीष दीजिये कि मैं अपना आत्मशौर्य प्रकट करनेमें सफल प्रयास होऊँ।"

गुरुने अपनी शान्तिमय छायामें अंजनको ले लिया। उस अंजनको जो कल तक चोर था जिसे लोग घृणाकी दृष्टिसे देखते थे और राज कर्मचारी जिसको पकड़कर शूलीपर चढ़ानेकी फिराकमें रहते ! उस दीनहीन पापी अंजनको निर्ग्रन्थ गुरुने जगत—पूज्य बना दिया।

अंजनने आत्मशौर्य प्रकट करनेके लिये हाथोंसे अपने बाल उपाड़ कर फेंक दिया, वस्त्रोंके बंधनको उतार फेंका। प्रकृत भेषमें निर्द्वन्द्व हो वह तप तपने लगे। सेठजी और माली उन्हें 'धन्य—धन्य' कहने लगे और शक्तिके अनुसार व्रत लेकर वापिस घर आये।

थोड़े समय बाद उन्होंने सुना कि अंजन संसार-मुक्त होगये—वह सिद्ध परमात्मा हुये हैं। भक्तिवश उन्होंने मस्तक नमा दिया और भगवानका पूजन किया। ....

[४]

धर्मात्मा शूद्रा कन्यायें । ×

(१)

उज्जनके उद्यानमें तपोधन निर्ग्रन्थाचार्य संघ सहित आकर विराजे थे । वे महान योगी और ज्ञानी थे । उज्जैनकी भक्तवत्सल जनताने जब उनका शुभागमन सुना तो उसने अपने भाग्यको सराहा। स्त्री–पुरुषों, बालक–बालिकाओं और युवा वृद्धोंने उनकी सत्संगतिसे लाभ उठानेका यह अच्छा अवसर पाया । स्वाति नक्षत्रका जल चातकको हर समय नहीं मिलता । योगियोंका समागम भी सुलभ नहीं होता । बनमें रहनेसे कोई योगी हो भी नहीं जाता । कामिनी कंचनका मोहत्याग कर जो इन्द्रियोंको दमन करनेमें सफल होकर जीवमात्रका कल्याण करनेके भी तत्पर होता है, वह सच्चा साधु संसारमें दुर्लभ है । उज्जैनकी विवेकी जनताने निर्ग्रन्थाचार्यमें एक सच्चे साधुके दर्शन किये, उसने अपनेको कृतकृत्य माना ।

उज्जैनके राजा, राव उमराव, धनी व्यापारी, सामान्य–विशेष सब ही निर्ग्रन्थाचार्यका धर्मोपदेश सुनने गये । सब ही एकटक होकर धर्मोपदेश सुनने लगे । आचार्य महाराज बोले–' भव्यो ! मानवजन्मका पाना महान पुण्यका फल है। समुद्रमेंसे राईके दानेको ढूंढ निकालना कदाचित् सुगम होसक्ता है; परन्तु मनुष्य होना उतना सुगम नहीं है । ऐसे अमूल्य जीवनको पाकर व्यर्थ ही आयु पूरी कर देना--सुखसे खानेपीने और मौज उड़ानेमें ही अपने

× ' गौतमचरित्र ' में मूल कथा है ।

कर्तव्यकी इतिश्री समज लेना अपने आपको धोखा देना है। क्योंकि मौजशौखमें सुख नहीं है। वह जबतक सहन होता है तबतक प्रिय लगता है। किंतु जहां इन्द्रियां शिथिल हुईं और युवावस्था खिसकी कि वही भोगपभोग काले नागसे दिखने लगते हैं। भाइयो, यदि मौजशौकमें ही सुख होता तो बुढापेमें भी उनसे सुख मिलना चाहिये; परन्तु वह नहीं मिलता। इससे स्पष्ट है कि संसारके इन्द्रियजनित भोगोंसे सुख नहीं मिल सक्ता-वह उनमें है ही कहां? सुख वस्तुतः अपनेसे बाहर कहीं है ही नहीं! आत्मा परसे जहां आकुलताका बोझ हल्का हुआ कि उसे सुखका अनुभव हुआ। सचमुच सुख प्रत्येक आत्माका निजी गुण है। यदि सुखी होना चाहते हो तो अपने भीतरके 'देव' को-'आत्माराम' को पहचाननेका प्रयत्न करो-'तुम्हारा कल्याण होगा!'

निर्ग्रन्थाचार्यका यह धर्मोपदेश सुनकर सब लोग प्रसन्न हुये और किन्हींने अपनी शक्तिके अनुसार धार्मिक व्रत नियम भी लिये। थोड़ी देरमें भक्तोंकी संख्या घट गई। निर्ग्रन्थाचार्यके पास इनेगिने आदमी रह गये। उससमय उन्होंने देखा कि तीन महाकुरूश रोगीसी शूद्रा कन्यायें उनके सन्मुख हाथ जोडे खड़ी हैं। आचार्य महाराजने उन्हें आशीर्वाद दिया।

वे शूद्रा कन्यायें उनके पाद-पद्मोंका आश्रय लेकर बोलीं-"नाथ! क्या हम-सी दीन-हीन व्यक्तियां भी सुख पानेकी अधिकारिणी हैं?"

निर्ग्रन्थाचार्यका मुखकमल खिल गया। उन्होंने उत्तरमें कहा-

'हां, पुत्रियो ! क्यों नहीं तुम भी सुख पानेकी अधिकारिणी हो ? तुम तो मनुष्य हो—पशु-पक्षी भी सुखी होसक्ते हैं ।'

कन्यायें—'पशु पक्षी भी ?'

निर्ग्रं०—'हां, पशुपक्षी भी । उनके भी आत्मा है और सुख प्रत्येक आत्माका अपना निजी गुण है । अब भला कहो, उस अपने गुणका उपभोग कौन नहीं कर सक्ता ? '

कन्यायें—'तो नाथ ! हमें सुख कैसे मिले ?'

निर्ग्रं०—'सुख आकुलताके दूर होनेसे मिलता है और आकुलता धर्म कर्म करनेसे मिटती है । इसलिए यदि तुम सुख चाहती हो तो धर्मकी आराधना करो !

शूद्रा०—' भगवन् ! हम धर्म कैसे पालें ?'

निर्ग्रं०—' देखो, जैसा अन्न खाया जाता है वैसा ही मन होता है और मनके पवित्र होनेपर इष्ट मनोरथ सिद्ध होते हैं । इसलिये पहले तुम शुद्ध भोजन करनेका नियम लो । जिस भोजनके पानेमें हिंसा होती हो और जो बुद्धिको विकृत बनाता हो, उसे मत ग्रहण करो । मधु, मांस, मदिरा—ऐसे पदार्थ हैं जो मानव शरीरके लिये हानिकर हैं, तुम उन्हें मत खाओ और देखो, हमेशा पानी छानकर साफ-सुथरा पियो !'

शूद्रा०—' नाथ, यह हम करेंगी । सादा और शुद्ध हमारा अशन—पान होगा ।'

निर्ग्रं०—'धन्य हो पुत्रियो ! अब देखो, जैसे तुम सुख चाहती हो वैसे ही प्रत्येक प्राणी सुखी होना चाहता है । अतः तुम भरसक

प्रत्येक प्राणीका उपकार करना न भूलो! दूसरेका भला करोगी तुम्हारा भला होगा।'

शूद्रा०–'नाथ! हम यह भी करेंगी! किंतु नाथ, हम रोग-मुक्त कैसे हों? दवाइयां बहुत खाई पर उनसे कुछ नफा न हुआ।'

निर्ग्रं०–पुत्रियो, संसारमें साता और असाता प्रत्येक प्राणीके पूर्वोपार्जित कर्मका परिणाम है। यदि तुम दूसरोंको बहुत कष्ट दोगी, किसीको रोगी–शोकी देखकर उसका तिरस्कार करोगी तो तुम भी दुखी और तिरस्कृत होओगी। जैसा बीज़ बोओगी वैसा फल मिलेगा। बस, रोग–शोकसे छूटना चाहती हो तो दीन-दुःखी जीवोंकी सेवा करो और व्रत पूर्वक जिनेन्द्र भगवानकी पूजा करो, तुम्हारा रोग दूर होगा।

शूद्रा०–'नाथ! जीवोंकी सेवा और व्रत उपवास तो हम कर लेंगी; परन्तु भगवत्पूजन हम कैसे करें? हमसी दीन दरिद्रियोंको मंदिरमें कौन घुसने देगा?'

निर्ग्रं०–'जैनी निर्विचिकित्सा धर्मको पालते हैं। वे जानते हैं कि यह काया स्वभावसे ही अशुचि और मलिन है। कायाके कारण किसीकी भी घृणा नहीं करना चाहिये। कायाका सौन्दर्य धर्म धारण करनेसे होता है। तुम जैन मंदिरमें जाओ और भगवानकी पूजा करो, तुम्हारा कल्याण होगा।'

निर्ग्रन्थाचार्यकी आज्ञा शिरोधार्य करके उन शूद्रा कन्यायोंने उनके चरणोंमें मस्तक नमा दिया। उनका रोम–रोम कृतज्ञताज्ञापन करता हुआ कह रहा था कि 'प्रभु! तुम पतितपावन हो।'

(२)

ब्रा०—'देवालयसे पवित्र स्थानमें शूद्र! सो भी कंगाल और कोढ़ी!'

जैन—'देवालय पतितपावन हैं, वहां पतित और नीच न आयें तो उद्धार किनका हो?'

ब्रा०—'धर्मका उपहास न करो।

जैन—यह धर्मका उपवास नहीं, सच्चा आदर है! रोगीको ही औषधि आवश्यक होती है। अच्छा भला आदमी औषधिका क्या करे? इसीतरह पापीको पापसे छूटनेके लिए धर्मकी आराधना करना चाहिए।'

ब्रा०—'तभी तो जैनी नास्तिक कहे गये। जाओ, वह बड़े नास्तिक तुम्हारे गुरु आये।'

जैनीने देखा निर्ग्रन्थाचार्य आरहे हैं। उसने उनको नमस्कार किया और चैत्यालयमें आकर वह उनकी धर्मदेशना सुनने लगा। श्रोताओंमेंसे एक भक्तने पूछा—'ये दयालु प्रभु! आज मैंने तीन कुरूपा कन्यायोंको जिनेन्द्रकी पूजा करते देखा है। नाथ, वे महान दरिद्री और रोगिल हैं। उनको देखकर मेरा हृदय रोता और हंसता है। प्रभू! इस भेदका रहस्य बतानेकी कृपा कीजिये।'

निर्ग्रं० बोले—भव्योत्तम! संसारमें फिरता हुआ यह जीव उच्च और नीच सब ही गतियोंमें जाता है। जैसे कर्म करता है वैसे फल पाता है। इन शूद्रा कन्यायोंने पूर्व जन्ममें अशुभ कमाई की उसीका फल अब भोग रही हैं; किंतु अब उनका जीवन सुधर गया

है, वह धर्ममार्गपर आगई हैं, उनका कल्याण अवश्यम्भावी है। तू धर्मवत्सल है—तेरे हृदयमें अनुकम्पा और आस्तिक्य—भाव है। उनके दुःखको तू कैसे देखे? और उनके पुण्यकर्म पर तू क्यों न प्रसन्न होवे?'

भक्तने मस्तक नमाकर कहा—' नाथ! आप सच कहते हैं। जिसे धर्मसे प्रेम होगा उसे धर्मात्मासे भी प्रेम होगा; क्योंकि धर्मका आश्रय धर्मात्मामें है।

निर्ग्रं०—' ठीक समझे हो, वत्स! धर्मात्मा रूप-कुरूप जाति-पांति—ऊँचनीच—कुछ नहीं देखता, वह गुणोंको देखता है। जानते हो हीरा और सोना मैलसे भरे ढेलोंमेंसे निकलते हैं। तन मलीन और कृषगात्र होते हुये भी मनुष्य धर्मात्मा होते हैं। ऐसे धर्मात्मा-ओंको देखकर ग्लानि नहीं करना चाहिये। सुनो एक दफा इसी देशमें एक सोमशर्मा नामका ब्राह्मण रहता था। उसकी स्त्रीका नाम लक्ष्मीमती था। उन दोनोंको अपने शरीर-सौन्दर्य और उच्च जातिका बड़ा अभिमान था। वे अपने सामने किसीको गिनते नहीं थे। एक दिन एक महान दिगम्बर जैन तपस्वी लक्ष्मीमतीके द्वारसे निकले। रूप और कुलके नशेमें मस्त बनी लक्ष्मीमतीने उन तपोधनको नंगा और मैला कुचैला देखकर बहुत उल्टी-सीधी सुनाई और मुंहसे पानका उगाल लेकर उनके फेंक मारा! वह सच्चे साधु थे, शत्रु और मित्रमें उनके समभाव थे। चुपचाप वह वनको चले गये। लक्ष्मीमतीके उद्दण्ड-हृदयने आरामकी सांस ली। पर जानते हो, वह रूप कुलके नशेमें पगली होरही थी और पगला क्या नहीं करता। आखिर

लक्ष्मीमतीको एक दिन ऐसा क्रोध आया कि वह स्वयं आगमें कूद-कर जल मरी ! मरते समय भी उसके परिणाम रौद्र—विकराल थे। सो वह वैसे ही क्रूर स्वभाववाले पशुओंके जीवनमें दुख भुगतती फिरी। मनुष्य जीवनमें जो पशु बना वह मरने पर क्यों न पशु हो? किंतु समय बीतने पर उस ब्राह्मणीका पशुभाव क्षीण होगया और मानवता उसमें पुनः जागृत हुई। अब कहो, पशु होकर भी जो मानवों जैसा विवेक दर्शाये, वह मानव क्यों न हो ? आखिर लक्ष्मी-मतीका जीव फिर मनुष्य शरीरमें आया। मगधदेशमें एक मल्लाह रहता था। उसीके घर उस ब्राह्मणीका जीव आकर जन्मा। वह उस मल्लाहकी काणा नामक कन्या हुई। प्रतिदिन वह नाव खेया करती और लोगोंको नदी पार उतारा करती; किंतु दुनियां ऐसी कृतघ्न कि वह उस बेचारीको नीच समझकर हल्की निगाहसे देखती। काणा फिर भी कुछ बुरा न मानती। इस कृतघ्नी दुनियांका वह बराबर उपकार करती—अपने मानव धर्मको वह उत्तरोत्तर विकसित कर रही थी। हठात् एक दिन सौभाग्य उसके सामने आ उपस्थित हुआ; किंतु वह सौभाग्य या उसी नंगे और मलीन रूपमें, जिसका उसने लक्ष्मीमतीके भवमें तिरस्कार किया था। वह बोली—'नाथ, मैंने आपको कहीं देखा है ?' तपोधन मुनिराजने उसे सब पूर्व कथा बता दी। काणा उसे सुनकर अपने संवेगको न रोक सकी। मनुष्य जीवनको सफल बनानेके लिये वह माता—पिताके मोहको खो बैठी ! सारे विश्वको उसने अपना कुटुम्ब बना लिया और उसकी सेवा करना अपना धर्म ! वह भिक्षुणी होगई

और नगर-ग्राम फिर कर प्राणियोंका हित साधने लगी। नीच-ऊंच, रूप-कुरूपको अब वह नहीं देखती थी—वह प्राणीमात्रका दुःख दूर करना जानती थी और सबको अपने समान आत्मा समझती थी। इसतरह उस नीच समझी जानेवाली काणाने खूब तप तपा। लोग अब उसके भक्त थे। आखिर समभावोंसे उसने शरीर छोड़ा और स्वर्गमें देवता हुई। वहांसे आकर श्रीकृष्णके पूज्य पूर्वज वासुदेवकी वह रानी हुई। देखा भाई! यह है धर्मका प्रभाव! शरीर और कुल जातिके मोहमें मत पड़ो। धर्मको देखो और उसका आदर करो।'

भक्तने निर्ग्रं०के मुखारविंदसे उपरोक्त कथा सुनकर अपनेको धन्य माना। सबने समझा कि धर्म पतित और उन्नत—सबके लिए समान हितकारी है।'

(३)

दिव्य क्षेत्र था और वहांकी दिव्य सामिग्री थी। शूद्रा कन्यायें मानो सोतेसे जाग उठीं! उन्होंने देखा, अब उनका वैसा कुरूप और रोगी शरीर नहीं है—वह तो अपूर्व, दिव्य और प्रभावान् था। उनके आश्चर्यका ठिकाना न रहा। चकित होकर जो उन्होंने नेत्रोंको ऊपर उठाया तो ऐश्वर्य देखकर वे स्थंभित होगईं! उन्होंने और भी देखा कि उनका शरीर अब पुरुषोंका है—अनेक अप्सराएं उनका स्वागत कर रहीं हैं। अब उन्हें जरा होश आया। अपने दिव्य ज्ञानसे उन्होंने विचारा! वे जान गईं, यह उनका दूसरा जीवन है। कन्यायोंके शरीरका अन्त उन्होंने समाधि धारण करके किया और

धर्माराधनाका मीठा फल उन्हें स्वर्गमें ले आया है। स्वर्गकी विभूति देखकर उनके जीव फूले अंग न समाये। दीर्घकाल तक उन्होंने स्वर्गोंके सुख भोगे। अन्तमें वे तीनों मगधदेशके गौरवग्राममें एक ब्राह्मणके घरमें पुत्र हुये, वे बडे विद्वान थे। चहुंओर उनकी कीर्ति विस्तृत थी। अन्ततः भगवान महावीरके वे तीनों भाई प्रमुख शिष्य हुये और सिद्ध परमात्मा बने! आज वे जगत्पूज्य हैं। शूद्रा जन्मसे विनयगुण द्वारा आत्मोत्कर्ष करके वे लोकवन्द्य हुये। धन्य है वे और धन्य है जिनधर्म, जिसने घृणायोग्य शूद्राओंको ऐसा महान पद प्रदान किया।

व्यभिचारजात-धर्मात्मा।

"न विप्रा विप्रयोरस्ति सर्वथा शुद्धशीलता।
कालेननादिना गोत्रे स्खलनं क न जायते॥
संयमो नियमः शीलं तपो दानं दमो दया।
विद्यन्ते तात्त्विका यस्यां सा जातिर्महती मता॥"

अर्थात्—"ब्राह्मण और अब्राह्मणकी सर्वथा शुद्धिका दावा नहीं किया जासकता है, यह कहकर कोई भी रक्तशुद्धिका ढिंढोरा नहीं पीट सक्ता कि उसके कुलमें किसीने व्यभिचार सेवन नहीं किया और तत्सम्बन्धी दोष उसके कुलमें नहीं चला आया। क्योंकि इस अनादिकालमें न जाने किसके कुल या गोत्रका कब पतन हुआ हो! इसलिए वास्तवमें उच्च जाति तो वही है जिसमें संयम, नियम, शील, तप, दान, दम और दया पाई जाती हो।"

—"जैनधर्मकी उदारता पृ० १८"

कथाएं:—

१—कार्तिकेय।

२—कर्ण।

[१]

मुनि कार्तिकेय ।*

(१)

नगरमें राजा राज्य करते थे । उनके राजदरबारमें बड़े २ दिग्गज विद्वानों और वेदपाठी पण्डितोंका जमघट रहता था । उस दिन उनमें बड़ी चहलपहल थी, अदम्य उत्साह था, सब ही पण्डित और विद्वान प्रसन्नचित्त थे । बात यह थी कि उस दिन राजा एक महत्वशाली प्रश्नका निर्णय करानेकी सूचना जनसाधारणको दे चुके थे। राजदरबार ठसाठस भरा था। मंत्री और उमराव, पण्डित और विद्वान सब ही अपने यथायोग्य आसनों पर बैठे हुए थे । एकदम सभाजन उठ खड़े हुये और एक ध्वनिसे सबने कहा— 'श्री महाराजाधिराजकी जय हो !'

राजा आये और सिंहासन पर बैठ गये । पण्डितोंमें उनके प्रश्नको जाननेके लिये उत्कंठा बढ़ी । राजाने मंत्रीकी ओर इशारा किया । मंत्रीने खडे होकर कहना शुरू किया:—

"'सज्जनों ! हमारे महाराज कितने न्यायशील और सरल हैं, यह आप लोगोंसे छिपा नहीं है । आप जो भी कार्य करते हैं उसमें अपनी प्रमुख प्रजाकी संमति ले लेते हैं । आज भी आपके सम्मुख एक ऐसा ही प्रश्न विचार करनेके लिये उपस्थित करनेकी आज्ञा श्रीमानने दी है । आप सोच विचार कर उत्तर दीजिये । प्रश्न यह है कि जिस वस्तुका जो उत्पादक होता है वह उसका

---

* आराधना कथाकोषमें वर्णित कथाके अनुसार ।

स्वामी होता है या नहीं? यदि स्वामी होता है, तो उसे उस वस्तुका मनमाना उपयोग करनेका अधिकार होना चाहिये।" मंत्री अपना वक्तव्य समाप्त करके बैठ गया। सभामें निस्तब्धता छागई। पण्डित मण्डलीमें थोड़ी देरतक कानाफूसी होती रही। आखिर उनमेंसे उग्र पण्डितने खड़े होकर सभापर दृष्टि दौडाई और राजाके आगे शीश नमा दिया। फिर वह बोले:—

"हमारे प्रजावत्सल राजाधिराज न्याय और बुद्धिमत्ताकी मूर्ति हैं। हमारे इस कथनका समर्थन उनके द्वारा उपस्थित किये गये प्रश्नसे होता है। साधारणसा प्रश्न है, किन्तु महाराज इस साधारणसे प्रश्नका निर्णय भी प्रजाकी सम्मति लेकर करते हैं, इसी लिये यह असाधारण है। सीधीसी बात है—जो जिस वस्तुका उत्पादक होता है वह उसका स्वामी और अधिकारी होता ही है। वह उस वस्तुका मनमाना उपयोग क्यों न करें? सज्जनो! आप हमारे इस निर्णयसे सहमत होंगे।"

उपस्थित मण्डलीने 'महाराजकी जय' बोलकर अपनी स्वीकृति प्रगट की। अब राजाकी हिम्मत बढ़ गई—राजा अनाचार पर तुला हुआ था—वह अपनी ही पुत्रीको अपनी पत्नी बनानेकी अनीति करना चाहता था। प्रजाकी अनुमति सुनकर वह मंत्रीसे बोला—"मंत्रिन्! अब कोई आपत्तिजनक बात नही है। प्रजा भी मेरे मतसे सहमत हैं। अब विवाह सम्पन्न होने दो।"

मंत्रीने कहा—'राजन्! यह तो ठीक है किन्तु प्रजाके निकट यह विषय और भी स्पष्ट रूपमें आजाना चाहिये।"

राजा कड़क कर बोला—"तुम मंत्री नहीं—राजद्रोही हो। चुप रहो। सज्जनो! जिस वस्तुकी आज रक्षा और पालन-पोषण करते मुझे बारह वर्ष होगये, क्या अब मुझे उसका मनमाना उपयोग करनेका अधिकार नहीं है?"

प्रजाने एक स्वरसे कहा—'अवश्य है, महाराज! अवश्य है।'

नीतिके आगार मंत्रीने फिर साहसपूर्वक कहा—"यह अधिकार अचेतन पदार्थोंपर होसक्ता है, सचेतन मनुष्यपर नहीं होसक्ता। किसी मनुष्यकी इच्छाके प्रतिकूल कोई कार्य करनेका अधिकार किसीको नहीं है। उसपर कन्याके विवाहमें उसकी इच्छा ही प्रधान होना चाहिये।"

राजा क्रोधसे थरथर कांपने लगा और दांत पीसते हुये बोला—'दुष्ट! उच्चपदको पाकर तू बौखला गया है। देखता नहीं, दास दासी मनुष्य हैं या और कोई? घोड़े हाथी, गाय, भैंस, सचेतन पदार्थ है या अचेतन? मैं उनका स्वामी और अधिकारी नहीं हूं? अब मुंह खोला तो जबान निकलवा लूंगा।

प्रजा राजाके अधार्मिक उद्देश्यसे अपरिचित हुई उसका साथ देरही थी; बेचारा मंत्री करता भी क्या? जनताको धोखा देकर राजाने अपनी दुरभिलाषाको पूर्ण करके मुखपर कालिमा लगाली।

(२)

उक्त घटनाको घटित हुये वर्षों बीत गए। 'राजाने अपनी पुत्रीको रानी बना लिया!'—यह बात भी अब किसीके मुंहपर नहीं सुन पड़ती! हाँ, रानीके हृदयमें वह शल्यकी तरह चुभ रही थी; पर

बेचारी क्या करती ! वह पतिके आधीन थी और पति भी उसका पिता और राजा था। इस दुख और अपमानपर परदा डालकर वह उन्हें हृदयमें छुपाये हुये थी, किन्तु एक रोज इस भेदका उद्घाटन अनायास होगया। राजमहलके आगे बहुतसे लड़के खेल रहे थे। सावनका महीना था, तीजोंका मेला अभी ही हुआ था, सब लड़के अपने २ खिलौने ला-लाकर दिखा रहे थे। एक लड़केने एक रेशमकी कढ़ी हुई गेंद निकालकर दिखाई। सब लड़के देखकर खुश होगये। एकने पूछा—"भाई, यह कहांसे लाये ?" दूसरेने बात काट कर कहा—"लाये कहांसे होंगे ? इनके नानाने मेलेमें ले दी होगी !"

जिसकी गेंद थी उस लड़केको अपनी नई गेंदका मोह था। वह डरा कि यह लोग छीनकर उसकी गेंद खो न दें। झटसे उसने गेंदको अपनी जेबमें छिपा लिया और तब बोला—"हाँ, ले तो दी है मेरे नानाने इसीसे मैंने लुक ली है, मैं खेलूंगा नहीं यह खोजायगी।"

सब लड़के एक स्वरसे बोले—'वाहजी ! कहीं खेलनेसे भी गेंद खोती है। लाओजी गेंद खेलेंगे।' और इसके साथ ही वे उसकी गेंद छीनने लगे।

इतनेमें एक सौम्य और गंभीर लड़केके आनेसे छीना छपटीमें बाधा पड़ गई। नये लड़केने कहा—'छोड़ो। उस बेचारेको। लो, इस गेंदसे खेलो।'

गेंद पाकर लड़के बहुत खुश हुये, एक लड़केने कहा—'यह गेंद उससे भी अच्छी है।'

दूसरेने पूंछा—'क्यों कुंवरजी, यह गेंद तुम्हारे नानाजीने दी होगी ?'

एक स्याना लड़का डपटकर बोला—'चुप रह न।'

इसपर एक अन्यने पहलेकी हिमायत लेकर कहा कि "चुप क्यों रहे? क्या इनके नाना नहीं है सो वह न कहे!" स्याने लड़केको भी ताव आगया—'उसने कहा कि' होते तो काहेको मना करता।"

दूसरेने बीचमें ही कहा—"तो क्या रहे नहीं?"

स्यानेने एक धौल जमाते हुए कहा—'इनके नाना जमसे नहीं है। इनके और इनकी मांके बाप एक हैं।'

यह सुनते ही लड़के खिलखिला पड़े। कुंवरने गेंद खींचकर एकके पीठमें जड़दी। खेल शुरू होगया, लड़के उसमें मग्न होगये। किन्तु कुमार अपनेको सम्हाल न सके। वह चुपचाप महलोंको चले गये। साथियों द्वारा हुआ अपमान उन्हें चाट गया।

(३)

रानीको कार्तिकेय बड़ा प्यारा था वह अपने लालको एक क्षणके लिये अपने नेत्रोंसे ओझल नहीं होने देती थी। उस दिन शामको जब बहुत देर होगई और कुमार कार्तिकेय नहीं आये तो वह एकदम घबडा उठी। दास दासियां चारों ओर उनको ढूंढ़ने लगीं: परन्तु कुमार कहीं न मिले। लड़कोंसे पूछा—उन्होंने उत्तर दिया कि वह मुद्दतके महलोंमें चले गये हैं।'

लड़कोंका उत्तर सुनकर एक दासीको भी याद आगया कि 'हां, उस ओरको जाते हुये मैंने कुंवरजीको देखा तो था।'

रानी एकदम उस ओरको दौड़ गई। उस छोरपर एक कमरा था। रानीने उसे थपथपाया, पर उत्तर न मिला। धक्का देकर देखा

तो मालूम हुआ अन्दरसे बन्द है। रानीने घबड़ाकर कहा—"भैया कार्तिक!"

इसके उत्तरमें भीतरसे आवाज आई—"भाईसे क्या कहती हो, मां?" और इसके साथ ही कुमार रानीके सामने आ खड़ा हुआ। रानी हड़बड़ा गई! कुछ संभले संभले कि कुमारने फिर कहा—'मां! मैं तुम्हारा भाई हूं?'

रानीका माथा ठनका, उसने कहा—इसका मतलब?'

'मतलब यह कि हमारे तुम्हारे पिता एक हैं।' कुमारके इन वचनोंको रानी सहन न कर सकी, उसे चक्कर आगया, वह बेहोश होगई। लोगोंके उपचार करनेपर उसे होश आया तो वह कुमारसे लिपटकर रोने लगी। दास-दासी, मां-बेटेको अकेला छोड़कर हट गए, दोनों पेट भरकर रोये।

अब रानीकी छाती जरा हल्की हुई थी, उसने कार्तिकेयके आंसू पूंछते हुये कहा—'बेटा, भूल जाओ इस पापको। मुझ अभागिनीको और मत सताओ।'

कार्तिकेयने कहा—'मां! मैं तुम्हें स्वप्नमें भी दुखी नहीं देख सकता; किन्तु फिर भी मैं यहां नहीं रहूंगा।'

रानी—'बेटा! मुझ अकेलीको छोड़कर कहां जाओगे? यहां तुम्हें कोई भी कष्ट नहीं होने दूंगी।'

कार्तिकेय-'मां, कष्ट! अन्याय और अधर्मके राज्यमें सुख कहां? जहां मातृ जाति नरकका कुछ मूल्य न हो, महिलाओंको अपने सुखदुखकी बात कहने तककी स्वतंत्रता न हो, वहां सुख कैसा?

महिलाओंमें भी प्राण हैं, वह भी सन्मानपूर्वक सुखी जीवन बिताने की लालसा रखतीं हैं। उनकी अभिलाषाओंको कुचलनेका किसीको क्या अधिकार है? वह भी मनुष्य हैं--मनुष्यजातिका अधिक मूल्यशाली अङ्ग है। राष्ट्रको बनाने और बिगाडनेवाले लाल उन्हींकी गोदमें पलते और बड़े होते हैं। उनका अपमान राष्ट्रका अध:पात है। मां, मैं ऐसे पतित राज्यमें नहीं रह सक्ता।'

कुमारके इन वचनोंने रानीका स्वात्माभिमान जागृत कर दिया। उसकी आंखोंमें तेज चमकने लगा, दृढ़ निश्चयसे उसने कहा--'बेटा! तुम ठीक कहते हो, यह अन्यायी राज्य है। धर्मात्मा लोग यहां नहीं रह सक्ते। चलो, मैं भी तुम्हारे साथ दूसरे देशको चलूंगी।'

(४)

पहाड़ी प्रदेश था, चारो ओर भोले-भाले पहाडी लोग ही दिखते थे, किन्तु उनके बीच सौम्य मूर्तिके धारक एक स्त्री और एक युवक थे। एक छोटीसी पहाड़ीपर उन्होंने अपनी कुटिया बना ली थी। उसीमें वह रहते थे और उसके सामने ही बैठ कर वे भोले पहाड़ियोंको मनुष्य जीवनका रहस्य समझाते थे। पासमें ही खेत था—युवक उसको जोतता और बोता था तबतक स्त्री घरका काम धंधा करती थी। फिर दोनों ही मिलकर उन पहाड़ी गंवारोंको सरस्वतीका पाठ पढ़ाते थे। उनके सुख दुखकी बातें सुनते थे और यथाशक्ति उनके कष्टोंको मेंटते थे। उनके मैत्रीभावने सब ही पहाड़ियोंको उनका सेवक बना लिया था। वे सब उन्हें अपना महान् उपकारक समझते थे। यह कोई नहीं जानता था कि यह राजकुमार हैं और स्त्री राजरानी। सचमुच वे कार्तिक और उसकी मां थे!

इसप्रकार परोपकारकी महान् तपस्या तपते हुए वे मां-बेटा वहां रह रहे थे। उन्होंने अपना यह सीधा सादा विवेकमय जीवन बना लिया था। मनुष्य जीवनका सार वह उसमें पा गये थे। खा-पीकर आरामसे जिन्दगी बिताना तो पशु भी जानते हैं; मनुष्य जीवन इससे कुछ विशेष होना चाहिये। वह विशेषता स्वयं जीवित रहने और अन्योंको जीवन बितानेमें सहायता प्रदान करनेमें है। कार्तिकेय और उसकी मांने इस सत्यको मूर्तिमान बना दिया था।

मां-बेटा दोनों इस जीवनमें बड़े सुखी थे; परन्तु दैवसे उनका यह सुख देखा न गया। एक दिन दोपहरको रानीने वनमें चिल्लाहट सुनी। वह कुटियासे बाहर निकली। देखा, एक चीता एक लकड़हारिनकी ओर झपट रहा है। रानीका रोम रोम परोपकारसे सुवासित था, उसे अपने प्राणोंका भी मोह न आया। तलवार लेकर वह लकड़हारिनकी रक्षा करनेके लिये झट दौड़ी। चीतेपर उसने तलवारका वार किया। चीता घायल होकर उसपर झपटा। रानीका पैर फिसला और वह गिर गई। चीतेका पंजा उसके वक्षःस्थल और पेटको लहूलुहान कर गया। चित्ता फिर झपटा; किन्तु अबकी एक सनसनाते हुये तीरने उसको प्राणान्त कर दिया! दूसरे क्षण कार्तिकेय भगते हुये घटनास्थलपर पहुंचे। देखा, उनकी मां अचेत पड़ी है, किन्तु लकड़हारिन बाल-बाल बच गई है। 'लकड़हारिनकी रक्षामें रानीने अपने अमूल्य प्राण उत्सर्ग कर दिये।' यह खबर बिजलीकी तरह चारों ओर फैल गई। अनेक नरनारी इकट्ठे होगये और रानीके साहसको सराहने लगे।

कार्तिकेय मांके पास बैठे उसकी अंतिम सेवा कर रहे थे। रानीने आंखें खोलीं। कार्तिकको देखकर वह मुस्करा दी, फिर पूछा—'लकड़हारिन बच गई ?' कार्तिकने उसकी रक्षाके शुभ समाचार सुनाये। रानीकी आंखोंमें आंसू छलछला आये। वह थोड़ी देर कार्तिकको एकटक निहारती रही। दूसरे क्षण उसने अस्पष्ट स्वरमें कहा—'बेटा कार्तिक! ले मैं चली। अ....र....हं...त....।"

चहुंओर अंधकार छागया। कुमार रोये नहीं! वह बड़े गंभीर बन गये! गांववाले उनकी पवित्रता देखकर हाथ जोड़कर नमस्कार करते और चले जाते। उनसे घुल २ कर बातें करनेकी उनकी हिम्मत न होती। हां, जहां रानीके शवकी दाहक्रिया हुई थी, वहां लोगोंने चबूतरा बना दिया था और उसपर नरनारी फूल चढ़ाना नहीं भूलते थे!

(५)

वेद मंत्रोंका पाठ उच्च स्वरसे होरहा था। अगणित ब्रह्मचारीगण आचार्य महाराजकी सेवा कर रहे थे। कुछ यज्ञका सामान जुटा रहे थे। कुछ आचार्य महाराजसे पाठ लेरहे थे। इतनेमें एक तेजधारी युवकने आकर आचार्यका अभिवादन करके कहा—'महानुभाव! मुझे भी दीक्षा देकर शिष्य बनानेकी उदारता दिखाइये।'

आचार्यने कहा—'वत्स! तुमने यह ठीक विचारा! ज़रा बताओ तो तुमने किस वंशको अपने जन्मसे सौभाग्यशाली बनाया है ?'

उत्तरमें युवक बोला—' महाराज! मेरे पिताने अपनी ही कन्यासे विवाह कर लिया था, उसीका फल मेरा यह शरीर है।'

आचार्य—'हा, महान् पाप ! मैं तुम्हें दीक्षा नहीं देसकता।'

युवक—'किन्तु महाराज ! यह पाप तो मेरे पिताने किया है, मैंने नहीं।'

आ०—'भाई, कुछ भी हो। तुम व्यभिचार जातके तुल्य हो। शास्त्रविधिके प्रतिकूल मैं तुम्हें दीक्षा देकर धर्म नहीं डूबा सकता।'

युवक कुछ न बोला। वह उठकर दूसरी ओर चला गया। पाठको, यह कुमार कार्तिकेय हैं। उन्होंने अपने परिणामोंमें त्याग और वैराग्यकी मात्राको अधिक बढ़ा लिया था। इसीलिये इस युवावस्थामें साधु दीक्षा लेनेकी उन्होंने ठानी थी। सचमुच जबतक हृदय पवित्र न बना लिया जाय तबतक इन्द्रियोंपर अधिकार नहीं किया जासक्ता।

कुमारने आगे जाकर एक दिगम्बर जैनाचार्यको तप तपते देखा। वह उनके चरणोंमें जा बैठा। आचार्यका ध्यान भङ्ग हुआ। उन्होंने कुमारको 'धर्मवृद्धि' रूप आशीर्वाद दिया। कुमारने मस्तक नमाकर दीक्षाकी याचना करते हुये कहा—'नाथ, यद्यपि मेरा यह शरीर पिता-पुत्रीके शारीरिक संभोगका फल है, तथापि यदि धर्मका आघात न हो तो आत्मकल्याण करनेका अवसर प्रदान कीजिये।'

आचार्य बोले—'वत्स ! तुम्हारा विचार स्तुत्य है। तुम्हारे मातापिता कैसे भी हों, धर्म यह कुछ नहीं देखता। क्योंकि धर्मका निवास आत्मामें है, हाड़मांस और चमड़ेमें नहीं है। उसपर हाड़-मांस किसका शुद्ध होता है, जो उसपर विचार किया जाय? व्य-भिचार पाप है, व्यभिचारजातता पाप नहीं है। बेटी, बहनसे संभोग

करना पाप है, परन्तु ऐसे सम्बन्धमें पैदा होनेवाला पापी नहीं है। धर्म तो मनुष्य मात्रका ही नहीं प्राणी मात्रका है।'

कुमार—'धर्ममें क्या पात्र-अपात्रका विचार नहीं किया जाता?'

आचार्य—'किया जाता है, कीड़े मकोड़े आदि तुच्छ प्राणी धर्म नहीं धारण कर सकते, इसलिये अपात्र हैं। परन्तु पशुपक्षी और मनुष्य-स्त्री-पुरुष, ऊंच-नीच, सङ्कर-असङ्कर सभी—धर्म धारण करनेके लिए पात्र हैं। समझदार प्राणियोंमें वे ही अपात्र हैं जो धर्मके मार्गमें स्वयं चलना नहीं चाहते या अपनी शक्ति लगाना नहीं चाहते।'

कु०—'क्या दुराचारी अपात्र नहीं है?'

आ०—'दुराचारी तभीतक अपात्र है जबतक वह दुराचारमें लीन है। दुराचारका त्याग करनेवाला व्यक्ति या दुराचारसे पैदा होनेवाला व्यक्ति अपात्र नहीं है।'

कु०—'क्या ऐसे लोगोंके पास धर्मके चले जानेसे धर्मकी हंसी न होगी?'

आ०—'यदि नीचसे नीच व्यक्तिके ऊपर सूर्यकी किरणें पड़नेपर भी सूर्यकी हंसी नहीं होती तो महासूर्यके समान धर्मकी हंसी क्यों होगी?'

कुमार मन ही मन प्रसन्न हुये। जिस रत्नकी खोजमें वे आजतक फिर रहे थे वह उन्हें मिल गया। माताके अवसानके बाद उन्हें सैकडों साधुवेषी मिले थे, परन्तु आज उन्हें एक सच्चा साधु मिला। वह सत्यका पुजारी था, संसारका हितेच्छु था, पर उसका गुलाम न था। उसे सत्य प्रिय था। लोगोंके बकवादका उसे जरा भय न था।

वह वेलाग था। कुमारने फिर पूछा -'महाराज! मैंने ऐसा क्या किया जो इस जन्ममें मुझे पापी होना पड़ा?'

उत्तरमें आचार्य बोले -'वत्स, तुम भूलते हो, तुम इस जन्ममें पापी नहीं हो। जानते हो, पाप करनेवाला पापी कहलाता है। पापका फल भोगनेवाला पापी नहीं कहलाता। कष्ट और आपत्तियां पापके ही फल हैं और ये सच्चेसे सच्चे महात्माके ऊपर भी आती हैं। क्या इसलिये वे पापी कहलाते हैं? यदि तुम्हारा जन्म तुम्हारे लिए कष्टप्रद हुआ तो वह पापका फल कहा जायगा, पाप नहीं। फिर तुम पापी कैसे?'

कुमारके नेत्र यह सुनकर सजल होगए। उनने प्रार्थना की-'गुरुवर्य! मैं सद्गुरुकी खोजमें था। सौभाग्यसे आपमें आज वे मुझे मिल गये। अब मैं मोक्षमार्गमें चलना चाहता हूं। आप मुझे साधु-दीक्षा देकर कृतार्थ कीजिए।'

गुरुवर्य कुछ चिन्तामें पड़े। फिर बोले-' तुम दीक्षाके योग्य हो, वत्स! इसमें कुछ सन्देह नहीं; परन्तु यह ख्याल रक्खो कि अपने जीवनको दूसरोंके सिरका बोझ बना देनेसे कोई साधु नहीं बनता। साधु, आत्मोद्धार और परोपकारकी अप्रतिम मूर्ति होता है।'

कुमार-'गुरुवर्य! आप जो आज्ञा करेंगे उसका मैं तन और वचनसे ही नहीं, मनसे भी पालन करूंगा!'

गुरुवर्यने 'तथास्तु' कहकर कुमारकी इच्छा पूर्ण की। कुमारने उनके चरणोंमें नमस्कार किया। ऐसा नमस्कार करनेका कुमारके जीवनमें यह पहला ही अवसर था। अब वह कुमारसे

लोकपूज्य साधु महाराज होगये। ज्ञान-ध्यानमें लीन होकर वह अपना आत्मोत्कर्ष करते और जीवोंके कष्ट निवारण कर उन्हें सन्मार्ग पर लगाते थे! लोग उन्हें महान् तपस्वी कार्तिकेय कहते थे।

(६)

एक शिष्यने गद्गद होकर कहा—'भैया! देखो आज गुरुवर्यने कैसा अनूठा सुभाषित कहा:—

'सिहस्स कमे पडिदं सारंगं जह ण रक्खेद को वि।
तह मिच्चुणा य गहियं जीवं पि ण रक्खेद को वि॥'

भावार्थ—'जैसे वनमें सिंहके चुंगलमें फंसे हुये हिरणके लिये कोई रक्षा करनेवाला शरण नहीं है, वैसे ही इस संसारमें काल द्वारा ग्रस्त प्राणीकी रक्षा करनेके लिए कोई सामर्थ्यवान नहीं है!'

दूसरेने कहा—'हां भाई, स्वामीजीके सुभाषित-रत्न अनुपम हैं। देखो उस रोज उन्होंने क्या खूब कहा था:—

'मणुआणं असुइमयं विहिणा देहं विणिम्मियं जाण।
तेसिं विरमणकज्जे ते पुण तत्थेव अणुरत्ता॥'

भावार्थ—'हे भव्य! मनुष्योंकी यह देह विधनाने अशुचि बनाया है सो मानो इन मनुष्योंको वैराग्यका पाठ पढ़ानेके लिए ही बनाया है; परन्तु आश्चर्य है कि यह मनुष्य ऐसी देहसे भी अनुराग करते हैं।'

एक तिलकधारी मनुष्यने आकर पूछा—'भाई, तुम्हारे गुरु कौन हैं?' उत्तरमें शिष्योंने वतलाया—'स्वामी कार्तिकेय निर्ग्रन्थाचार्य हमारे गुरु हैं। वे क्रोंचनगरके बाहर उद्यानमें विराजमान हैं।'

ति०—'तो यह हम लोगोंका सौभाग्य है। भला, यह तो बताओ वह ब्राह्मण साधु हैं या क्षत्रिय? अथवा उनकी जाति क्या है?'

शिष्य यह सुनकर हंस पडे और बोले—'साधु भी कहीं ब्राह्मण क्षत्री होते हैं। धर्ममें जातिके लिये कोई स्थान नहीं है।'

ति०—क्या कहा? धर्ममें जाति नहीं? क्या धर्मको डुबाना चाहते हो?'

शिष्य—'धर्म ऐसा गम्भीर और उदार है कि वह किसीके डुबायेसे नहीं डूब सक्ता। जानते हो, साधुगण मुक्तिके उपासक होते हैं—भुक्तिके नहीं। और मुक्ति न ब्राह्मण है—न क्षत्रिय और न वैश्य या शूद्र! हमारे गुरुवर्य जीवन्मुक्त होना चाहते हैं और इसीका उपदेश देते हैं। फिर भला वह वर्ण जातिके झंझटमें क्यों पडे?'

ति०—'वाह भाई, यह खूब सुनाई! तो वर्णाश्रम धर्म सब व्यर्थ हैं!'

शि०—'हां धर्मकी आराधना करनेवालेके लिए तो वह निष्प्रयोजन ही हैं। संसारके पीछे दोडनेवाले गृहस्थ उनसे अपना व्यवहार चलानेमें सुविधा अवश्य पाते हैं।'

ति०—'छिः छिः यह मैं क्या सुन रहा हूं। वर्णाश्रम धर्मके परम रक्षक महाराजाधिराज क्रौंचपुरेशके धर्म राज्यमें यह अधर्म वार्ता! अच्छा, इसका मजा तुम्हारे गुरुको चखाऊँगा।'

तिलकधारी आंखें लाल-पीली करता हुआ चला गया। शिष्योंने उसकी आकृतिसे भविष्यमें आनेवाली आपत्तिका अनुमान कर लिया। वे गुरुवर्यके पास पहुंचे और सारा हाल उनसे कह-

सुनाया। गुरुमहाराजको भी आपत्तिका अनुमान करके शिष्यों सहित समाधि धारण करनेका आदेश दिया! बाहरी दुनियां, सच बोलना भी तेरे निकट अपराध है।

(७)

राजाके सिपाहियोंने कार्तिकेय महाराजको जा घेरा। जब वह न बोले तो उन्होंने पाशविक बलका प्रयोग किया। उन्हें जबरदस्ती उठाकर वे राजाके सम्मुख लेगये। राजानें देखकर कहा—'यह क्या?'

सिपा०—'महाराज! न तो यह बोलता है, और न हिलता डुलता है। राजाने क्रूरतापूर्वक हंसते हुए कहा—'जरा इसकी मरम्मत कर दो।'

सिपाही भूखे भेड़ियेकी तरह साधु महाराज पर टूट पड़े। शोर होने लगा। रानीने भी यह कोलाहल सुना। वह दौड़कर नींचे आई। उसने देखा कि कार्तिकेयका शरीर खूनसे लथपथ हो रहा था। रानीने चिल्लाकर कहा—'अरे यह क्या करते हो? यह साधु मेरा भाई है।' राजा एक क्षणके लिये चौंका, परन्तु दूसरे क्षण उसने कहा—'कोई भी हो, जो राजद्रोही है—राजधर्मका अपमान करता है, उसकी यही दशा होना चाहिये।' रानी यह न देख सकी। वह खूनसे सने कार्तिकेयसे लिपट गई। राजाने उसे अलग करवा कर कार्तिकेयको अर्धमृतक करके एक तरफ डलवा दिया!

राजाका यह क्रूर कृत्य विजलीकी तरह चारों ओर फैल गया। महान तपस्वी और लोकोद्धारक कार्तिकेयके भक्त भी जनतामें थे—

उन्होंने जनताको राजाके इस अत्याचारकी भीषणता बतलाई । प्रजा एकदम राजाके विरुद्ध होगई । राजा घेर लिये गये । और पकड़ कर कार्तिकेयस्वामीके सामने उपस्थित किये गए । प्रजाने कहा-'इस धर्मद्रोहीको हम प्राणदण्ड देंगे महाराज !' धर्मकी मूर्ति कार्तिकेय इस वेदनामें भी मुस्करा कर बोले-'मैं इसे क्षमा करता हूं । तुम इन्हें छोड़ दो ।' प्रजाने बड़े आश्चर्यसे यह आज्ञा सुनी । धर्मके उदाररूपका उसने इसमें दर्शन किया । राजा यह सुनकर लज्जाके मारे गल रहा था । उसने प्रायश्चित्त चाहा । गुरुवर्यने तप ही प्रायश्चित्त बताया और वह निम्नभावको दर्शाते हुए स्वर्गधामको सिधार गये:—

' कोहेण जो ण तप्पदि सुरणरतिरिएहिं कीरमाणे वि ।
उवसग्गे वि रउद्दे तस्स खिमा णिम्मला होदि ॥ '

भावार्थ-' जो मुनि देव, मनुष्य, तिर्यंच आदिकर रौद्र भयानक उपसर्ग होनेपर भी क्रोधसे तप्तायमान नहीं होते, उस मुनिके ही निर्मल क्षमा होती है ।'

स्वामी कार्तिकेयने उत्तम क्षमा धर्मका पालन मरते मरते दम-तक किया । लोगोंने उठाकर उनके शवको अपने मस्तकपर रक्खा और चन्दन-पुष्पादिसे उसे सम्मानित किया । उनकी स्मशानयात्रामें हजारों आदमी साथ थे और सब ही ' महात्मा कार्तिकेयकी जय ' के नारे लगा रहे थे ।

[२]

महात्मा कर्ण !×

(१)

मालती लता भौंरोंके नेहसे विकसित होरही थी और चकवी-चकवेको देखकर आनन्द मना रही थी। लतायें वृक्षोंसे लिपटकर प्रणयकेलि कर रहीं थीं और हिरणी हिरणको चाटकर प्रेम मधुरिमा बिखेर रही थी। तब वहाँ चहुँ ओर प्रेम और नेहका ही साम्राज्य था। कुरुवंशके कारण सम्राट् पाण्डु उस आनन्दी प्रकृतिमें आत्म-विस्मृतसे होरहे थे। माधवीलताके कुँजमें बैठे हुये वह कुछ सोच रहे थे। सायंकालकी लालीमा विलीन होरही थी; पर साथ ही रात्रिका अंधकारपूर्ण चंद्रके धवल प्रकाशके शुभागमनसे दुम दबाकर भाग रहा था। पाण्डुको इस लुकाछिपी और भाग-दौड़का कुछ भी ध्यान न था, किन्तु उनका ध्यान एक रमणीकी पगध्वनिसे भंग होगया। वह हड़बड़ाकर कुंजके कोनेमें छिप रहे। रमणी सामने आगई थी—पाण्डुने समझा पूर्ण-शशि ही इस वसुधाको रंजायमान करनेके लिये वहां आई है। वह एकटक रमणीकी ओर निहारता रहा। उन्नत भालमें हिरणीकीसी बड़ी २ आंखें उन्हें बड़ी प्यारी लगीं। पीठपर लहराते हुये काले केशपाशने उनपर अपना जहर चढ़ा दिया। वह दिव्यता भूलकर मानवतामें आफंसे। काम-नेत्रोंसे रमणीमें उन्होंने अपनी हृदय-सम्राज्ञी कुन्तीके दर्शन किये—पाण्डुका मन-मयूर नाच उठा। उसने कहा—'हां! यही तो कुन्ती

× हरिवंशपुराण पृ० ४३० पर मूल कथा है।

है। और कोई है भी तो नहीं इसके साथ।" पाण्डु दबे पांव कुन्तीके पीछे जा खड़े हुये। कुन्तीकी आँखोंको उनके हाथोंने ढक लिया। कुन्ती अचकचाकर सिहर उठी। साहससे हाथोंको टटोला। जरा संभलकर बोली--'यह ठठोली अच्छी नहीं लगती। कोई देख लेगा!'

पाण्डु--'देख लेगा तो क्या होगा। क्या तुम मुझे प्रेम नहीं करतीं?'

कुन्ती--'प्रेम! पर जानते हो लोग कहते हैं कुँवारी कन्याको परपुरुषसे बात नहीं करना चाहिये।'

पा०--'लोग कहते हैं. कहने दो। तुम्हारे लिये तो मैं परपुरुष नहीं हूं।'

यह कहकर पाण्डुने कुन्तीको अपने दृढ़ बाहुपाशमें वेष्टित कर लिया। कुन्तीके अधरों पर पाण्डुका मुख था और उनके पग धीरे धीरे मालती-कुञ्जकी ओर उन्हें लिये जारहे थे।

जब वे कुञ्जके बाहर निकले तब उनके मुखोंपर केलिश्रम छारहा था। पाण्डुको अपनी प्रेयसीसे आज अंतिम विदा लेनी थी। कुन्ती पाण्डुके विशाल वक्षस्थलमें मुंह छिपाये थी। दिलमें न जाने उसे अदेखा डर डरा रहा था। पाण्डुको उसने जोरसे थाँभ रक्खा था। पाण्डुने अपना सिर झुका दिया और वह बड़े प्यारसे कुन्तीको सान्त्वना देने लगा। उसने कुन्तीसे वायदा किया कि वह हस्तिनागपुर पहुंचते ही उसे बुला भेजेगा। वह कुरुवंशकी राजधानी होगी। कुन्तीके चित्तको प्रसन्न करनेके लिये पाण्डुके यह शब्द काफी थे;

किन्तु कुन्ती प्रसन्न न हुई। कोशिस करने पर उसे कुछ ढाढस जरूर बंधा। आखिर पाण्डुसे विदा होकर वह राजमहलको गई। उस समय दोनों प्रेमी एक दूसरेको लौट लौटकर देखते जाते थे!

(२)

'धाय माँ, अब मेरी लाज तुम्हारे हाथ है' कहा कुन्तीने। उसकी धायको उससे माँ जैसी ममता थी। उसने आश्वासन भरे शब्दोंमें कहा—'बेटी, घबड़ाओ नहीं। यह संसार दुर्निवार है। तुम भोलीभाली पुरुषोंकी बातोंको क्या जानो!'

'पर माँ, राजेन्द्र पाण्डु मुझे लिवाले जानेका वचन देगये थे!' बात काटकर कुन्ती बोली।

धायने गहरी सांस लेकर कहा—'बेटा! राजाओंको बड़े २ राजकाज लगे रहते हैं—वह जो न भूल जांय वह थोड़ा।'

कु०—'तो क्या मां, पांडुने मुझे भुला दिया?'

धा०—'यह कैसे कहूं बेटी? पर एक बात निश्चित है कि पुरुष होते बड़े स्वार्थी और पाखण्डी हैं। स्त्रियोंकी मान मर्यादाका मूल्य वह नहीं आंकते। वे तो हमें अपने विषयभोगकी सामग्री समझते हैं।'

कु०—'होगा मां, किन्तु पाण्डु ऐसे पुरुष नहीं हैं। वह मेरा समुचित सन्मान करते हैं, वह मुझे भूल कैसे गये?'

धा०—वेटी! धीरज धरो। यह दुनियां बड़ी ठगनी है। इसमें जो चमकता है वह सब सोना ही नहीं निकलता।'

कु० तुम धीरजकी कहती हो पर....

धा०—'पर क्या ? पाण्डुका गर्भ है—बढ़ने दो इसे । तेजस्वी पुत्र जनना ।'

कु०—'छिः ! दुनियां हँसेगी और कहेगी—' कुमारी कन्याने बेटा जना ।' यह अपमान कैसे सहन होगा ?'

धा०—' तो क्या हिंसा करके पाप कमाओगी ?'

कु०—' न मां, यह मैं कब कहती हूँ ।'

धा०—' नहीं कहती, तो धीरज धरो । भगवान सब अच्छा करेंगे !'

कुन्ती एक दीर्घ निःश्वास छोड़कर क्षितिजके अनन्त रूपको निहारने लगी ।

(३)

" अरे देखो तो, गंगाके प्रवाहमें वह सोनेसा चमकता क्या मटका वहा जारहा है ।" मल्लाहने अपनी स्त्रीके मुखसे यह शब्द सुनते ही गंगाकी शरण ली । गंगाकी प्रचण्ड तरंगे थीं और मल्लाह उनसे अठखेलियां कर रहा था । देखते ही देखते वह सोनेसा चमकता मटका वह पकड़ लाया । उसकी स्त्रीने देखते ही कहा—' अरे यह तो रत्नमंजूषा है ।'

'टपक पड़ी लार ! यह तो बनता नहीं कि सूखे कपड़े लादे ।' कहा मल्लाहने । उसकी पत्नीने सूखी धोतीका दी--मल्लाहने उसे पहन लिया । अब वह रत्नमंजूषाकी ओर झुका । पत्नी हर्षातिरेकसे विह्वल बोली—'भाग्य सराहो, रत्नोंका पिटारा मिला है !'

मल्लाहने कहा—'इसमें कौनसा अचंभा, जब तुम लक्ष्मी मेरे सामने बैठी हो !'

पत्नीने पतिको प्यारेका धक्का लगाते हुये कहा— चलो रहने दो ठठोली, खोलो भी इसे।'

मल्लाहने देखा, मंजूषाके एक कोरमें चावी लटक रही है। चावी लेकर उसने उसे खोला। पहले एक पत्र मिला; फिर बहुमूल्य रेशमी दुपट्टेमें लिपटा हुआ एक नवजात शिशु! बालकका मुख पूर्णिमाके चन्द्रमाके सदृश विकसित होरहा था। मल्लाह और उसकी पत्नी इस अपूर्व निधिको देखकर अचंभेमें पड़ गये। पत्रको उठाकर देखा। उसपर राजमुद्रा लगी हुई थी। वे घबड़ा गये, इस मंजूषाके कारण उनपर कोई आपत्ति न आए। यह सोचकर मल्लाहने उस रत्नमंजूषाको राजदरबारमें पहुंचा देना निश्चित किया।

उस समय राजगृहमें जरासिंधु नामका राजा राज्य करता था। उस भाग्यशाली बालकको देखकर वह फूले अंग न समाया। राजमुद्रा और सौम्य मूर्तिसे उसने बालकको एक राजपुत्र समझा और उसे पालनपोषण करनेके लिये धायको देदिया! जब वह जरा बड़ा हुआ तो लोग उसे कर्ण कहकर पुकारने लगे। कर्ण एक होनहार बालक निकला। जरासिंधु उसपर बहुत प्यार करता था।

(४)

कुरुक्षेत्रके रणाङ्गनमें दोनों सेनायें आमने-सामने डटी हुई थीं। एक ओर महाराज जरासिंधुकी चतुरंगिणी सेना थी। दूसरी ओर श्रीकृष्ण और अन्य यादवगण तथा उनके सम्बंधी पांडवोंकी सेना थी। घमासान युद्ध होनेको था, दोनों ओर बड़े बड़े योद्धा थे।

पाण्डवोंके शिविरमें राज-रानियां भी साथमें थी। कुन्ती उनमें

मुख्य थी। उस दिन वह अशोकके पेड़ तले बैठी अपने कौमार जीवनकी घटना याद कर रही थी। अनायास वह बोली—' ऐसा तो था ही उसका मुखड़ा और शरीरकी आभा ! उसे देखते ही मेरे स्तनोंसे दूध झरने लगा। वह अवश्य मेरा ही पुत्र है !'

यह कहकर वह चुप हो फिर सोचने लगी। मातृस्नेहने उसे विह्वल बना दिया। दूसरे क्षण वह तपाकसे उठी और एक परिचारिकाको उसने कुछ आज्ञा दी।

कुन्ती फिर अपने ध्यानमें लीन होगई। उसी समय एक वीर सैनिकने आकर प्रणाम किया। कुन्ती चौंक गई। उसने देखा यही वह युवक है जिसे देखकर उसका हृदय ममतासे रो उठा था। कुन्तीने नवागन्तुकका आदर सत्कार किया। उसके मुखको गौरसे देखकर उसे दृढ़ निश्चय होगया कि यही मेरे कुमारी जीवनका पुत्र है। कुन्तीने साहस करके पूछा - वीर युवक ! तुमने अपने जन्मसे किस कुलको सुशोभित किया है ?'

सैनिक यह प्रश्न सुनकर अचकचा गया—बोला, ' मां मैं तो राजा जरासिंधुको ही अपना पिता समझता हूं।'

कुन्ती—'समझने और होनेमें बहुत अंतर होता है, युवक ! अकुलाओ मत। मैं तुम्हें अपमानित नहीं करना चाहती पर तुम्हारे जन्मके रहस्यका उद्घाटन करना चाहती हूं। शायद तुम यह सुनकर आश्चर्य करोगे कि अर्थ [illegible] तुम्हारे पिता और मैं तुम्हारी माता हूं।'

इसके साथ ही कुन्तीने सारी पूर्व कथा कह सुनाई; जिसे

सुनकर कर्णके हृदयमें भी मातृस्नेह जागृत होगया। वह झटसे मांके पैरोंमें गिर पड़ा। कुन्तीने उसे उठाकर छातीसे लगा लिया। बड़ी देर तक मां-बेटेका यह मौन संमिलन चला। आखिर कुन्ती बोली—'कर्ण! युधिष्ठिर आदि तुम्हारे छोटे भाई हैं। आओ, तुम इन्हें अपनी छत्रछायामें लो। अपने ही इष्टजनोंका अहित अब तुम कैसे करोगे?'

कर्ण—'मां, तुम सच कहती हो। यह मेरे भाई हैं; परन्तु बांधवोंके प्रेममें मनुष्यको अपना कर्तव्य भुलाना उचित नहीं। जरासिन्धुने मेरी रक्षा की है। यह शरीर उसीका है; मैं उसकी आज्ञा मानूंगा। हां, अपने भाइयोंसे युद्ध नहीं करूंगा; यह वचन देता हूं।'

कु०—'पाण्डुका पुत्र ही कर्तव्य पालन कर सक्ता है। धन्य हो, मैं तुम्हें पाकर अपने कुमारी जीवनके कलङ्कको भूल गई हूं!'

कर्ण यह सुनकर उठ खड़ा हुआ। 'मां, यदि जीवित रहा तो फिर मिलूंगा।' कहकर उसने कुन्तीका चरणस्पर्श किया!

कर्ण विचारमग्न हो अपने शिबिरको चला गया। वह सोचता था कि दुनियांमें कैसा दम्भ है? अपनी प्रतिष्ठा और सम्मानके झूठे मोहमें लोग अपनी संतानको भी जलप्रवाह कर देते हैं। इस पाखंडकी धज्जियां उड़ना चाहिये। लोकका कल्याण सत्यकी शरणमें आनेसे होगा। इस युद्धके उपरान्त मैं इस पाखण्डसे युद्ध लड़नेका अनुष्ठान करूंगा, यही कर्णकी प्रतिज्ञा है!

(५)

सुदर्शन उद्यानमें निर्ग्रन्थाचार्य दमवर विराजमान थे। कर्ण

उनकी वन्दना करके एक ओर बैठ गये। उनको देखकर मुनिराजने पूंछा—'वत्स, किस फिक्रमें हो?'

कर्ण—'हे नाथ! हृदयमें एक ज्वाला जल रही है। अपनी शीतलगिरासे उसे बुझानेकी उदारता दिखाइये।'

मुनि—'वत्स! साधु स्वपर कल्याण करना ही जानते हैं।'

कर्ण—'ठीक है प्रभो! किन्तु दुनियां बड़ी दम्भी है, वह रूढ़िकी उपासना करती है।'

मुनि—'उपासना नहीं, अपना पतन करती है। रूढ़िकी दासता विवेकहीनताका परिणाम है और विवेकहीन महान् पतित होता ही है।'

कर्ण—'रूढ़िके विना मनुष्यका नैतिक जीवन कैसे पनपे? सब तो ज्ञानवान होते नहीं।'

मुनि—'भूलते हो वत्स; रूढ़िसे मनुष्यका नैतिक पतन होता है। जिस बातको वह स्वयं सत्य और उपादेय समझता है, उसीको रूढ़िके भयके कारण वह नहीं करता और अपनेको धोखा देता है।'

कर्ण—'महाराज, सो कैसे?'

मुनि—'देखो, आज लोग स्त्रियोंको भोगकी सामग्री मात्र समझते हैं और उनके वैयक्तिक जीवनको जरा भी महत्व नहीं देते। अब मान लो एक नरपिशाच किसी कुंवारी कन्याका शील अपहरण करता है और उसके गर्भ रह जाता है। वह नरपिशाच तो चार घड़ीका मज़ा लेकर अपने रास्ते जाता है। भोली कन्या अब रूढ़िका शिकार बनती है। गर्भको वह एक कलङ्क समझती है, क्योंकि दुनियां उसे बालक जन्मता देखकर हंसेगी और नाम धरेगी।

हठात् रूढ़िकी बलि वेदीपर वह अपने नवजात शिशुको उत्सर्ग कर देती है। देखो, यह मनुष्यका कितना भीषण पतन है? नैतिक साहसके अभावमें वह कन्या उस अत्याचारीको दण्ड दिलाने और अपना जीवनसाथी बनानेके लिये लाचार नहीं करती!'

कर्ण—'महाराज! यदि ऐसा होने लगे तो वर्णशङ्करता फैल जावे और विवाह धर्मकी पवित्रता नष्ट होजावे!'

मुनि—'यहां भी तुम भूलते हो। वर्णशङ्करता अपनी कुल परम्परीण आजीविकाको त्याग देनेसे होती है। वय प्राप्त युवक-युवती यदि अपना जीवनसाथी स्वयं ढूंढ़ते हैं, तो उसमें कौनसा दोष है? विवाह मनुष्य जीवनकी सुविधाके लिये है और यह सुविधा स्वयं पति-पत्नी चुननेमें अत्यधिक होगी। गांधर्व विवाह शास्त्रोक्त है ही। इस क्रियासे महिलाओंमें आत्मस्वातंत्र्य जागृत होगा और उनका जीवन महत्वशाली बनेगा!'

कर्ण—'नाथ, फिर कुलकी रक्तशुद्धि कैसे रहेगी?'

मुनि—'क्या बातें करते हो? रक्त भी कभी किसीका शुद्ध हुआ है? शरीर तो स्वभावसे अशुचि है। उसकी शुद्धिका एकमात्र उपाय धर्माराधना है, सत्यकी उपासना करना है। पति-पत्नी न बनकर वैसे ही अंधाधुंध कामसेवन करना व्यभिचार है; किन्तु गांधर्व विवाह उससे भिन्न है। उसपर व्यभिचार जातको पापकलङ्क और अशुद्ध रक्तधारी बताना महान् मूर्खता है। व्यभिचार जात और विवाह जात दोनोंके शरीर एकसे होते हैं। उनमें कुछ अंतर नहीं होता। वे दोनों अपने शरीरोंको धर्मसे ही पवित्र कर सक्ते हैं।

किन्तु रूढ़िके नामपर व्यभिचारको उत्तेजना देना धर्म नहीं होसक्ता। अब समझे रूढ़िका हानिकारक रूप ।'

कर्ण—'प्रभू! मैं खूब समझा। मेरा शरीर आपकी व्याख्याका प्रत्यक्ष प्रमाण है। मैं कुंवारी कन्याके गर्भसे जन्मा हूं। महाराज! मुझे साधु दीक्षा प्रदान कर इस शरीरको पवित्र बनाने दीजिये।'

आचार्य दमवरने 'कल्याणमस्तु' कहकर कर्णको मुनि दीक्षा प्रदान की। 'जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा'की वीरोक्तिको कर्णने मूर्तिमान बना दिया! कुरुक्षेत्रके रणाङ्गणमें उन्होंने वैरियोंके दांत खट्टे किये थे, अब वे विधि-विधानोंके पाखंडको जड़मूलसे मेंटनेके लिये ज्ञान तलवार लेकर जूझ पड़े। कर्मवीर ही धर्मवीर होते हैं।

कर्णने जिस स्थानपर अपने वस्त्राभूषण उतारकर फेंके थे, उस रोजसे वह स्थान 'कर्ण सुवर्ण' के नामसे प्रसिद्ध होगया। मुनिवर कर्णकी स्मृतिको वह अपने अङ्कमें छिपाये था।

महात्मा कर्णने खूब तप तपा और अपने आत्माका ऐसा विकास किया कि चहुंओर उनकी प्रसिद्धि होगई। उनका साधु-जीवन आत्मोद्धारके साथ-साथ लोकोद्धारको लिए हुए था। उन्होंने अपने निश्चयके अनुसार लोकमें सत्यका ज्ञान फैलाया और अन्तमें समाधिमरण द्वारा वह सद्गतिको प्राप्त हुये।

पाप-पङ्कसे निकलकर धर्म्मकी गोदमें।

"महापापप्रकर्ताऽपि प्राणी श्रीजैनधर्मतः।
भवेत् त्रैलोक्यसंपूज्यो धर्मात्किं भो परं शुभम्॥"

अर्थात्-'घोर पापको करनेवाला प्राणी भी जैनधर्म धारण करनेसे त्रैलोक्य पूज्य होजाता है। धर्मसे बढ़कर और शुभ वस्तु है ही क्या?'

कथायें:—

१-चिलाती पुत्र।
२-ऋषि शैलक।
३-राजर्षि मधु।
४-श्रीगुप्त।
५-चिलातिकुमार।

[२]

चिलाती पुत्र ।×

(१)

'औं-औं' कर रोते हुये पड़ोसीके लड़केने सेठ धनवाहसे आकर चिलातीपुत्रकी शिकायत की। लड़केके मुंहसे खून निकल रहा था और हाथके कड़े गायब थे। लड़केकी सूरत देखते ही सेठजी चिलातीकी नटखटीको ताड़ गये थे। उसकी यह पहली शिकायत नहीं थी। ऐसी नटखटी देना उसका स्वभाव होगया था। सेठजी भी परेशान आरहे थे। आज वह उसकी नटखटी सहन न कर सके। लड़केको पुचकार कर उन्होंने शान्त किया और चिलातीपुत्रको बुलाया। सेठजी कुछ कहें ही कि इसके पहले उसने लड़केके कड़े निकालकर कहा—'कड़े तो मैंने खेलमें लेलिये थे, यह गिर पड़े, चोट लग गई, सो भागे चले आये।'

'गिर पड़ा था ?–ऑं, तूने मुझे मारा नहीं ?' लड़का बोला।

सेठजीने आँखें लाल पीली करके कहा—'बस, बहुत हुआ चिलातीपुत्र ! अब तुम मेरे यहां नहीं रह सक्ते।'

उद्दण्ड चिलातीपुत्रने इसकी जरा भी परवाह नहीं की। उसने मनमें कहा—'राजगृहमें क्या तू ही अकेला सेठ है ? मैं नौकरी करना चाहूंगा तो उसकी कमी नहीं।' किन्तु चिलातीपुत्रने नौकरी नहीं की। वह नटखट, बदमाश और हरामी था। सेठ धनवाहके

× 'सामायिकना प्रयोगो' पृ० २६ और 'धर्मकथाओ' पृ० १९६ पर वर्णित कथाओंके आधारसे।

यहां उसको कुछ काम नहीं करना पड़ता था। उनकी पुत्री सुखमाको वह खिलाता भर रहता था। आखिर वह बेकार आवारह घूमने लगा।

राजगृहके बाहर सिंहगुफाके पास चोरोंकी पल्ली थी। चिलातीपुत्र उन चोरोंमें जा मिला। और कालान्तरमें वही उनका सरदार होगया।

(२)

चिलातीपुत्र अब डाके डालता और चोरी करता हुआ जीवन विता रहा था। फिर भी वह सुखी नहीं था। उसका मन रह-रह कर सेठ धनवाहके घरकी दौड़ लगाता था। बात यह थी कि वह अपनी सखा सुखमाको भूला नहीं था। वह सोचता, अब सुखमा मेरीसी जवान होगई होगी। उसके साथ आनन्द-केली करूं तो कैसा अच्छा हो। एक रोज उसने अपने इस विचारको कार्यमें पलट दिया।

राजगृहमें सब सोरहे थे। हां, चौकीदार यहां-वहां अवश्य दिखाई पड़ते थे। चिलातीपुत्रको उनकी जरा भी परवाह नहीं थी। वह अपने साथियोंके साथ दनदनाता हुआ सेठ धनवाहके घरमें जा घुसा। सेठने जब यह जाना कि डाकुओंने घर घेर लिया है तो वह प्राण लेकर भागा। इस भगदड़में सुखमा पीछे रह गई। चिलातीपुत्रने झट उसे उठा लिया और धन लूटकर वे सब सिंहगुफाकी ओर भाग गये।

सेठ धनवाहने देखा कि सुखमा नहीं है तो वह विकल-शरीर होगये! कोतवालको उन्होंने बहुतसा धन दिया और उसके साथ वे अपने लड़कोंको लेकर चोरपल्लीकी ओर सुखमाकी खोजमें गए।

चोरोंने देखा कि उनका अड्डा राजकर्मचारियोंका शिकार बना है तो वे सब इधर उधर भाग खड़े हुए । चिलातीपुत्र भी सुखमाको लेकर गहन वनको भागा । सेठने अपने पुत्रों सहित उसका पीछा किया ।

चिलातीपुत्र यद्यपि हट्टा-कट्टा और एक दासपुत्र था, पर था वह भी मनुष्य ही । आखिर उसकी शारीरिक शक्ति जवाब देने लगी और सेठ उसका पीछा कर ही रहे थे। उस दुष्टने आव गिना न ताव, झटसे सुखमाका सिर काटकर ले लिया और उसका शव वहीं फेंक दिया ! सिरको लिये वह पहाड़ी परको चढ़ता चला गया ! सेठ धनवाहने सुखमाका शव देखकर उसका पीछा करना छोड़ दिया। उनके मुंहसे 'हाय' के सिवा कुछ न निकला । उन्हें काठ मार गया—वे वहीं बैठ गये !

शोक ज़रा कम होनेपर सेठने शबको लेकर राजगृहकी ओर लौटनेकी ठानी । वह थोड़ी दूर चले भी; परन्तु रास्ता कहीं ढूंढे नहीं मिलता था । वह रोते-रोते बैठ गये । भूखे प्यासे शोकाकुलित एक वृक्ष तले पड़ रहे । आखिर भूखने उन्हें ऐसा सताया कि वह बेहाल होगये । खानेको एक कण भी उनके पास न था । बेचारे सेठ बड़े संकटमें पड़े । सुधबुध उनकी जाती रही । भूखने उन्हें नर-राक्षस बना दिया । अपने प्राणोंके मोहमें वह बेटीका शोक भूल गये । बेटीका निर्जीव शब उनके सामने था और भूख भी मुंह बाये खड़ी थी । सेठने उस शबका भक्षण करके पेटकी ज्वाला शांत की ! और ज्यो-त्यों करके वह राजगृह पहुंचे ! प्राणोंका मोह महाविकट है ।

(३)

तूफान मेल जैसे खड़ी मालगाड़ीसे टकराता है, वैसे ही चिलाती पुत्र वेतहाशा भागता हुआ एक ध्यानमें वैठे हुए चारण मुनिसे जा टकराया ! मुनिका ध्यान भङ्ग हुआ। उन्होंने चिलाती पुत्रका बीभत्सरूप देखा। अनायास उनके मुखसे निकल पड़ा— 'अरे ! यह क्या अधर्म !'

चिलाती पुत्र आवेशमें था। मुनिके उपरोक्त शब्द सुनते ही वह बोला—'तो धर्म क्या है ?'

जिज्ञासाका भाव होता तो मुनिवर शायद उसे धर्मका विस्तृत रूप सुझाते; परन्तु चिलाती पुत्र तो आपेमें नहीं था। मुनिवर 'उपशम, संवर, विवेक' शब्दोंका उच्चारण करते हुए अन्तर्धान होगये।

मुनिको इस तरह आकाशमें विलीयमान होते देखकर चिलाती पुत्र अचंभेमें पड़ गया। उसे सोचने-विचारनेका तनिक अवकाश मिला। उसने दुहराया—'उपशम, संवर, विवेक यह क्या ? धर्म यही है क्या ? पर इनका मतलब ?' उसकी समझमें कुछ भी न आया, पर वह उन तीनों शब्दोंको रटने लगा। रटते-रटते उसका मन और भी शान्त हुआ। उसने सोचा 'विवेक' तो उसने सुना है। महात्माओंको लोग विवेकी कहते हैं—महात्मा अच्छा बुरा चीनते हैं, तो क्या विवेकके अर्थ भला-बुरा चीनना है ? इस विचारके साथ ही उसने अपने हाथमें सुखमाका सिर देखा। उसे देखते ही वह सिहर उठा, बोला—'आह ! यह कितना बीभत्स दिखता है। सुखमाका रूप अब कहां गया ?' विवेकने उसकी बुद्धिको सतेज

किया, मोहका परदा फट गया, उपशमभाव जागृत हुआ। चिलातीपुत्रने तलवारको देखा और कहा— क्रोधकी निमित्तभूत इस तलवारका क्या काम? फेंको इसे।" तलवार उसके हाथसे छूट पड़ी। फिर भी वह उन तीन शब्दोंकी जाप जपता रहा।

जाप जपते हुए उसने विचारा—'मुनिमहाराजने इन्हींको तो धर्म बताया था; तो यही धर्म है? पर संवर क्या? कुछ भी हो; मैं सेठ और कोतवालपर क्रोध क्यों करूं? दूर फेंक दूं इस तलवारको' और इसके साथ ही तलवारको उसने एक गारमें फेंक दिया। उसका चित्त अपूर्व शांतिका अनुभव करने लगा। अब उसने सोचा—'यही धर्म है, यही संवर है, मेरा चोला इसीसे चैनमें है। मैं आराधूंगा मुनिराजके धर्मको।' चिलातीपुत्र अपने निश्चयमें दृढ़ रहा!

हत्यारे और चोर दासपुत्रकी धर्मके तीन शब्दोंने काया पलट दी। उन शब्दोंसे उसकी बुद्धि और हृदयको शान्ति मिली—भीतरकी आकुलता मिटी। हाथ कङ्गनको आरसी क्या? चिलातीपुत्रने धर्मका यथार्थरूप पहचान लिया। वह शान्तचित्तसे विवेक, उपशम और ध्यानमें लीन रहा। उसे यह भान भी नहीं हुआ कि उसके खूनसे सने हुये शरीरमें चीटियां लग रहीं है—जानवर उसे खारहे हैं। उन धर्ममय परिणामोंसे उसने शरीर छोड़ा और वह स्वर्गलोकमें देव हुआ! हत्यारा अपने पापका प्रायश्चित्त कर चुका, उसका अंतर पशु मर गया—संसार उसका क्षीण हुआ। आत्मारामका जाज्वल्यमई प्रकाश उसके मुखमंडलपर नाच रहा था। अब उसे कौन हत्यारा कहे? धर्मने उसकी काया पलट दी। ऋषियोंने कहाकि देवगतिके-

सुख भोगकर वह शास्वत निर्वाणपदको प्राप्त करेगा। पाप-पङ्कसे निकलकर चिलातीपुत्र धर्मकी गोदमें आया और उसे वहां वह शांति और सुख मिला जो संसारमें अन्यत्र दुर्लभ है।

(४)

राजगृहके विपुलाचल पर्वतपर भ० महावीरका शुभागमन हुआ था। लोगोंमें उनकी बड़ी चर्चा थी। सब कोई कहता था कि वह बड़े ज्ञानी हैं, सर्वज्ञ हैं, सार्वदर्शी हैं, जीवमात्रका कल्याण करनेवाले हैं। जब राजा श्रेणिक उनकी वन्दनाके लिये गया, तब तो सारा नगर ही इन भगवानके दर्शन करनेके लिये उमड़ पड़ा। सेठ धनवाहके लिये यह अवसर सोने-सा हुआ। सुखमाका वियोग होनेके बादसे संसार उन्हें भयावना दीखता था। सेठको सत्संगतिमें सान्त्वना मिलती थी। एकान्तमें जब वह अपने जीवनका सिंहावलोकन करते तो सिहर उठते, सोचते—'जिस बेटी सुखमाको प्यारसे पाला था उसीको खागया। हाय, मुझसा निर्दयी कौन होगा?' यह मोहका माहात्म्य था; किन्तु दूसरे क्षण विवेक आकर कहता—'भूलते हो; वेटी कहां? वह तो पुद्गलपिंड मात्र था। शरीर आत्मा नहीं है।' इस विवेकके साथ ही संवेग भाव उन्हें सत्संगति करनेकी प्रेरणा करता था। अतः सेठ धनवाह भी वन्दना करने गये। भ० महावीरके अपूर्व तेज और ज्ञानको देखकर उनका हृदय नाचने लगा। हृदयमें वैराग्य उमड़ आया। वह बोले—

'प्रभु! मुझ पतितको उबारिये। मैं ऐसा पापी हूं जो प्राणोंके मोहमें अपनी बेटीका शव भक्षण करगया।'

भगवान मुस्कराये—'सेठ ! तुम अब पापी नहीं हो । पापसे तुम भयभीत हो । तुम्हारा भविष्य उज्ज्वल है । तुमने तो मृतमांस ही खाया है; परन्तु धर्मकी शरणमें आकर नर-हत्यारे भी कृतकृत्य होगये हैं । चाहिये एक मात्र हृदयकी शुद्धि ।'

सेठ—'नाथ ! मैं आपकी आज्ञाका पालन अक्षरशः करूंगा ।'

भ० महावीरके निकट सेठ धनवाह दीक्षा लेकर साधु होगये । साधु होकर उन्होंने खूब तप तपा, संयम पाला, जीव मात्रका उपकार किया और ग्यारह अंगका ज्ञान उपार्जन किया । समाचारको पालकर वह भी स्वर्गगतिको प्राप्त हुये ।

[?]

ऋषि शैलक !*

(१)

इन्द्रकी अमरावती जैसी द्वारिका नगरी सौराष्ट्रदेशकी राजधानी थी । वहां वसुदेवके पुत्र श्रीकृष्ण राज्य करते थे । वैताढ्यगिरी तक समूचे दक्षिणार्ध भारतपर उनका अधिकार था, वह आनन्दसे सुखपूर्वक राज्य कर रहे थे ।

उस समय द्वारिकामें थावच्चा नामक एक समृद्ध और बुद्धिशाली सेठानी रहती थी । थावच्चापुत्र उसका इकलौता बेटा था । थावच्चाने उसे लाड़चावसे पाला पोसा और पढ़ाया लिखाया था । पढ़लिखकर जब थावच्चापुत्र एक तेजस्वी युवक हुआ तब उसका

*. 'धर्मकथाओं' पृ० ४७ के अनुसार ।

विवाह हुआ। वह वैवाहिक जीवनका आनन्द लूटनेमें व्यस्त था।

श्रीकृष्णके चचेरे भाई भगवान् अरिष्टनेमि थे। जरासिंधुसे जब यादवोंका युद्ध हुआ था तब कृष्णके साथ अरिष्टनेमिने भी अपना भुजविक्रम दिखाया था। जरासिंधुकी पराजय और याद-वोंकी विजय हुई थी। श्रीकृष्ण अरिष्टनेमिके बलके कायल होगये थे। उन्होंने अरिष्टनेमिका विवाह कुमारी राजमतीसे निश्चित किया। बारात चढ़ी, अरिष्टनेमि दूल्हा बने; परन्तु उन्होंने व्याह नहीं किया। मार्गमें पशुओंको घिरा देखकर उन्हें उनपर दया आगई, पशुओंको उन्होंने छुड़ा दिया। साथ ही इस घटनासे वे संवेगको प्राप्त हुये। संसार भी तो बंदीगृह है, कोई क्यों बंधनमें रहे। अरिष्टनेमिने आत्मस्वातंत्र्य पानेके लिये बनका रास्ता लिया, वे महान योगी हुये। सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बनकर उन्होंने लोककल्याणके लिए सारे देशमें घूम-घूमकर मुमुक्षुओंको सत्यका स्वरूप सुझाना प्रारम्भ कर दिया।

विहार करते हुये भ० अरिष्टनेमि द्वारिकामें आये। श्रीकृष्ण तथा अन्य यादवगण उनकी वन्दनाको गये। थावच्चापुत्र भी गया। उसने भगवानके मुखारविंदसे धर्मोपदेश सुना। शरीरबन्धनमें पड़ा रहना उसे असह्य होगया। मातासे उसने विदा ली, पत्नीको सान्त्वना दी और सबकी अनुमति पाकर थावच्चापुत्र साधु होगया।

मां बोली—'बेटा, इस मार्गमें सदा यत्न करना, पराक्रम दिखाना, कभी प्रमादमें न फंसना!'

थावच्चापुत्रने माताके इन वचनोंको सार्थक कर दिखाया। वह एक सच्चे साधुके समान सावधानी और साहससे धर्ममार्गका

पर्यटक बना। गांव-गांव पैरों चलकर वह सत्यका संदेश लोगोंको सुनाता और उन्हें धर्मके कल्याणमई मार्गमें लगाता था।

(२)

सौगंधिका नामक नगरीमें शुक नामक परिव्राजक रहता था। वह शौचमूलक धर्मका उपदेश देता था। स्नान आदि बाह्य शुद्धि और मंत्रादि उच्चारण रूप वह आन्तरशुद्धि मानता था। थावच्चा पुत्र घूमते हुये उस नगरीमें पहुंचे। शुकसे उनका समागम हुआ। शुकने उनसे पूछा:—

"हे भगवन्! आपके यात्रा है? यापनीय है? और क्या अव्याबाधपना तथा प्रासुक विहार है?"

उत्तरमें थावच्चा पुत्र बोले—"हे शुक! मेरे यात्रा, यापनीक अव्याबाध और प्रासुकविहार है।"

शुक—"हे भगवन्! यात्रासे आपका मतलब क्या है?"

था०—"हे शुक! सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और संयमादि योगोंमें तत्परता ही यात्रा है!"

शुक—'और प्रभू यापनीयमें आपका प्रयोजन क्या है?"

था०—"हे शुक! यापनीय मेरे निकट दो तरहकी है-(१) इन्द्रिय यापनीय, (२) नोइन्द्रिय यापनीय। श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, जिह्वा और स्पर्श—यह पांचों ही इन्द्रियां विना किसी प्रकारके उपद्रवके मेरे वशमें हैं, इसलिये मेरे इन्द्रिय यापनीय है। तथा क्रोध, मान, माया, लोभरूप कषाय संस्कारोंमें कुछ तो मेरे क्षीण होगए हैं और कुछ शम गये हैं, इसलिए मेरे नोइन्द्रिय यापनीय भी है।"

शु०—'अब अव्याबाधका स्वरूप बताइये ?"

था०—'हे शुक ! वात, पित्त, कफ अथवा तीनोंके संक्रमणसे उत्पन्न होनेवाले रोग मुझे त्रास नहीं देते, यही मेरा अव्याबाध है।"

शु०—'प्रभो ! प्रासुक विहार भी निरूपिये।'

था०—'हे शुक ! मैं बाग-बगीचे, मंदिर आदि स्त्री-पुरुषादि रहित स्थानोंमें रहता हूं, यही मेरा प्रासुकविहार है !'

शु०—भगवान् ! बताइए क्या आप एक हैं, दो हैं, अक्षत हैं, अव्यय हैं, अवस्थित हैं या अनेक भूत-भविष्यत् रूप हैं ?'

था०—'द्रव्यकी अपेक्षा मैं एक हूं तथा ज्ञानदर्शनकी अपेक्षा दो हूं। मेरे अनेक अवयव हैं, इस दृष्टिसे मैं अनेक हूं। आत्मप्रदेशकी अपेक्षा अक्षत हूं, अव्यय हूं और अवस्थित हूं। उपयोगकी अपेक्षा भूत, वर्तमान और भविष्यका ज्ञाता होनेके कारण भूत वर्तमान और भविष्यरूप हूं।'

यह सुनकर शुक संतुष्ट हुआ और बोला—"ज्ञानियोंका कहा हुआ धर्म आप मुझे समझाइये।"

थावच्चापुत्रके निकट धर्मका स्वरूप हृदयंगम करके शुक जैन साधु होगया। थावच्चापुत्रके साथ वह भी गांव गांवमें धर्मोपदेश देता घूमने लगा। पुंडरीक पर्वतसे जब थावच्चापुत्र मुक्त हुये तब वह उनके पास था। शुकने उस समय खूब ज्ञानाराधना की !

(३)

शुक अनगार फिरते फिरते सेलकनगरके उद्यानमें आ विराजमान हुये। उनके शुभागमनकी बात सुनकर राजा शैलक तथा

अन्य नगरवासी वन्दना करने और धर्म सुननेके लिये उनके निकट पहुंचे। शुकऋषिके धर्म प्रवचन सुनकर वह राजा बोला:—

"हे देवानुप्रिय! मैं आपके निकट दीक्षा लेकर विषय-कषायोंसे मुक्त होना चाहता हूं। मैं मंडूककुमारको राज्यभार देकर अभी आपकी शरणमें आता हूं।"

शुक बोले—'हे राजन्! तुझे रुचे वह कर।'

शैलकने मंडूकको राजतिलक किया और सबसे क्षमा कराकर वह थावच्चापुत्रके निकट आकर मुनि होगया। मुनि होकर शैलक खूब ही ज्ञान ध्यानमें रत रहने लगे। संयमपूर्वक अपना जीवन विताते हुये वह चहुंओर विहार करने लगे। कालान्तरमें शुकाचार्यने उन्हें पंथक आदि पांचसौ मुनियोंका गुरु नियत किया।

शैलकाचार्य उग्र संयमका आचरण करते थे। रूखा-सूखा जो कुछ मिलता वह भोजन करते और ज्ञानध्यानमें समय व्यतीत करते थे। अकसर वह भूखे पेट रहते थे। इस प्रकारके आहारविहारसे शैलकऋषिका सुकुमार शरीर पित्तज्वरसे सूखने लगा। किन्तु इसके कारण उन्होंने अपने संयमाचरणमें जराभी असावधानी न की! ज्वरग्रस्त वह स्वपरकल्याण करनेमें रत रहे।

(४)

शैलकाचार्यको ज्वरग्रस्त कृषकाय देखकर मंडूक राजाने उनसे प्रार्थना की कि "हे भगवान्! आप यहीं विश्राम कीजिये। मैं अपने योग्य वैद्यों द्वारा आपकी चिकित्सा कराऊंगा।"

मंडूकके इन वचनोंने शैलकके हृदयमें मोह जगा दिया। उसने

मंडूककी विनय स्वीकार की। कुशल चिकित्सक उनकी चिकित्सा करने लगे। औषधियोंमें मद्य भी था। मोहग्रस्त शैलक उसे भी पी गये। धीरे धीरे वह खूब हृष्टपुष्ट होगए।

शैलकके पांचसौ शिष्य विचारे परेशान थे। वे सोचते थे—अब गुरु महाराज विहार करते हैं; किन्तु गुरुके डाढ़ तो मद्य लग गया था। वह उसे कैसे छोड़ें? आखिर शिष्यगण ही उन्हें छोड़कर चले गये, रह गया एकमात्र पंथक! वह गुरूके इस भ्रष्टाचारमें भी उनका साथी रहा।

चातुर्मासिक प्रतिक्रमण—गुरुके निकट अपने अपराधोंको स्वीकार करके क्षमायाचना करनेका अवसर आया। पंथकने गुरुके चरणोंमें शीश नमाया। पादप्रहार करते हुये शैलकने क्रोधपूर्वक कहा—"कौन दुष्ट है जो मुझे सोतेसे जगाता है?"

सचमुच पंथक सोतेसे जगानेके लिये—पाप पंकसे शैलकको बाहर निकालनेके लिए उसके पास रह गया था। उसने विनम्रस्वरमें उत्तर दिया—"प्रभो! और कोई नहीं, आपका शिष्य पंथक है। चातुर्मासिक प्रतिक्रमणकी क्षमायाचना करने आया हूं। मेरे इस कार्यसे आपको कष्ट हुआ है तो क्षमा कीजिये।"

शैलक इन बचनोंको सुनते ही उठकर बैठ गया, उसका आत्मभाव जागृत होगया। वह सोचने लगा कि "देखो तो विषयवासनाओंका त्याग करके फिर मैं उनमें फंसा हूं, यह मेरा घोर पतन है। मदिरा पीकर मस्त होना और मौज उड़ाना मैंने जीवनका उद्देश्य कैसे समझ लिया? छिः धिक्कार है मुझको! वह मेरा उग्र तप और

स्वादेन्द्रियको जीतनेकी वह मेरी महान् साधना आज कहां गई? अरे! अरे! यह क्या हुआ? मुझसा पापी और नीच कौन होगा? उगालका भक्षण भला कौन करेगा? उठो, चलो, छोड़ो इस स्थानको! यह मेरे पतन, मेरे कलङ्कका जीताजागता चिह्न है। धन्य है यह पन्थक! इसने मेरा बड़ा उपकार किया!"

इस विचारके साथ ही शैलक वहांसे विदा होकर पंथकके साथ अन्यत्र विहार कर गये।

पुण्डरीक पर्वतपर शुकाचार्य तप माढ़े बैठे थे। शैलकऋषि पंथकके साथ वहां जाकर उनके चरणोंमें गिर पड़े। बोले—'प्रभो! मुझ पतितको उबारिये!'

शुकाचार्य मुस्करा दिये। उन्होंने कहा—'वत्स! विषय दुर्निवार हैं, इनके मोहमें फंसना कुछ अनोखा नहीं है। अनोखापन तो इनके चंगुलसे छूटनेमें है। तुम शरीरके मोहमें पड़कर मद्यासक्त हो गये; किन्तु अपने इस कुकृत्यपर तुम्हें ग्लानि है, यही विशेषता है।'

शैलक—'नाथ! मैं महापापी हूं, मेरा उद्धार कीजिये!'

शुक०—'शैलक! अब तुम पापी नहीं, पुण्यात्मा हो! वशिष्ठ मुनिकी बात याद नहीं? वह भी मद्यमांसादि भक्षणमें आनन्द लेता था; किन्तु धर्मवार्ताने उसके हृदयको पलट दिया। मद्यमांसादिसे उसे घृणा होगई, वह सच्चा साधु होगया। हृदयकी शुद्धि ही मोक्ष-मार्गमें आवश्यक है। हृदयशुद्धिके विना जपतप आदि सभी व्यर्थ हैं।'

शैलक—'गुरुवर्य! मुझे वही साधन बताइये जिससे मेरा हृदय और भी पवित्र बन सके!'

शुक०—'पापसे ग्लानि होना ही हृदयशुद्धिकी पहिचान है, तुम पापसे भयभीत हो! अब तुम निशङ्क होकर संयमकी आराधना करो। पहले संवेग और कायोत्सर्गका अनुसरण करो, तुम्हारा कल्याण होगा। सवेरेका भूला शामको रास्ते लग जाय तो उसे भूला नहीं कहते। तुम मार्गभ्रष्ट नहीं हुये हो, अपना आत्मकल्याण करो!'

गुरुसे प्रायश्चित्त लेकर शैलक धर्ममार्गमें पहलेकी तरह फिर पर्यटन करने लगे। उनसे पाँचसौ शिष्य फिर उनकी शरणमें आगए। खोई हुई प्रतिष्ठा-पूज्यता उन्हें फिर प्राप्त होगई। सच है, गुणोंसे मनुष्य पूज्य बनता है और अवगुणोंसे वह लोकनिन्द्य होता है। धर्मकी शरण ही त्राणदाता है। मार्गभ्रष्ट लोगोंको मार्ग सुझाना, उन्हें उनके पूर्वपद पर बिठाना महान् धर्मका कार्य है! स्थितिकरण धर्म यही तो है। पंथकने इस धर्मको निभाया और अपने भूले हुए गुरुको फिर वह धर्म-मार्गपर ले आया! गुरुसे उसने घृणा नहीं की, यद्यपि उनकी इन्द्रियाशक्तिसे उसे तीव्र घृणा थी! पापीसे नहीं, पापसे ही घृणा होना चाहिये। सम्यक्त्वी तो पापी और धर्मात्मा सब ही पर अनुकम्पा रखता है!

शैलक अब पूर्ववत् धर्माचार्य थे। पुण्डरीकपर्वत पर रहकर उन्होंने अपना शेष जीवन धर्माराधनामें व्यतीत किया। अंतमें समाधिमरण द्वारा वह सद्गतिको प्राप्त हुए।

[३]

राजर्षि मधु !*

(१)

अयोध्याके राजा मधुका प्रताप अतुल था। सब ही राजा उसका लोहा मानते थे। केवल एक राजा था जो उनकी आज्ञा माननेके लिये तैयार न था। मधुको वह शल्यकी तरह चुभता था। उसको वश किये विना उन्हें चैन न पड़ी।

अयोध्यामें चारों ओर धूम मच गई। जिधर देखो उधर सिपाही ही सिपाही नजर आते थे। कोई अपनी तलवार पर शाम धरा रहा था तो कोई ढालकी मरम्मत करा रहा था। कोई योद्धा अपनी प्रेयसीके बाहुपाशमें फँसा विकल होरहा था; तो कोई अन्य अपनी बहादुर पत्नीसे विदा होते हुये हर्षके अश्रु टपका रहा था। आखिर शत्रुपर आक्रमण करनेके लिये गमन करनेका दिन आगया!

राजसेना खूब सजधजके साथ अयोध्यासे बाहर निकली। नागरिकोंने उसपर मांगलिक पुष्प वर्षाये। राजमाताने राजा मधुको दही चखाया और मुहरसे दहीका तिलक करदिया। राजमाताकी आशीष लेकर मधु शत्रुविजयके लिये चल पड़ा।

मार्गमें वटपुर पड़ता था। वीरसेन वहांका राजा था। महाराज मधुका वह करद था। अपने प्रभूका शुभागमन जानकर उसने उनका स्वागत किया। सब ही आगन्तुकोंकी उसने खूब ही आवभगत की। वटपुरमें उन दिनों खूब चहल पहल रही।

---

* हरिवंशपुराण पृष्ट १६९ व ४२२के आधारसे।

राजा मधु राजमहलमें निमंत्रित हुए। वीरसेनने उत्तम अशन-पान द्वारा उन्हें खूब ही संतुष्ट किया। वीरसेनकी रानी चंद्राभाने मधुको सोने लगे बीड़े भेंट किये। राजा उन्हें पाकर स्नेहातिरेकसे विह्वल होगया। चंद्राभा यथानाम तथा गुण थी। उसकी मुखश्री चंद्रमाको भी चिनौती देती थी! मधु एक टक उसकी ओर निहारता रह गया!

(२)

'शत्रुको विजय करके राजा मधु अयोध्या वापस आये हैं' यह समाचार बिजलीकी तरह नगरके आबाल वृद्ध जनतामें फैल गया। सबने अपने उत्साहको प्रकट किया। नगरको खूब सजाया और दिल खोलकर विजयी सेनाका स्वागत किया। अयोध्यामें कई दिनोंतक विजयोत्सव होता रहा, किन्तु इस उत्सवमें राजा मधुने नगण्य भाग लिया। वह दोजके चन्द्रमाकी तरह कदाचित् ही कहीं दिख जाते थे। सो भी वह मुख म्लान और चिन्तायुक्त दिखते थे। प्रजाने समझा यह युद्धश्रमका परिणाम है; किन्तु चतुर मंत्रियोंने कुछ और ही अर्थ निकाला। वह भी अपनी मंत्रणामें संलग्न होगये।

आखिर मंत्रियोंकी आशङ्का ठीक निकली। राजा चन्द्राभाको भूला नहीं। उसने मंत्रियोंसे कहा—'अब और कितने दिन मुझे वियोग ज्वालामें जलाओगे?' मंत्रीगण चुप थे। उनमेंसे एकने साहस करके कहा—'प्रभो! हमें आपकी क्षेम ही इष्ट है, किन्तु नाथ! ऐसा कोई काम भी उतावलीमें नहीं होना चाहिये, जिससे आपका अपयश हो और प्रजा विरुद्ध होजाय!'

राजा अधीर था। बोला-' उतावली कहां? महीने-से बीत रहे हैं और तुम मुझे प्रत्यीक्षाकी अग्निमें भून रहे हो!'

मंत्री-' नहीं, नाथ! हम इसका उपाय अब शीघ्र करेंगे।'

राजा कामातुर था-उसकी वुद्धि नष्ट होगई थी, खानापीना उसे कुछ भी नहीं सुहाता था, एकमात्र 'चन्द्राभा, चन्द्राभा' कहकर गरम २ सांसें वह लेता था। मंत्रियोंने उसकी प्राणरक्षाका एकमात्र साधन चन्द्राभाको जानकर उसको प्राप्त करना ही आवश्यक समझा!

(३)

राजा मधुने बड़े समारोहसे विजयोत्सव मनवाया था। उसके राज्यके सब ही राजा, उमराव सपरिवार निमंत्रित किये गये थे और सब ही अपने लाव लश्कर सहित अयोध्या पधारे थे। खूब ही आनन्दरेलियां होने लगीं। प्रजाने कहा-' देखो, ये बातें ठीक निकलीं न? तब महाराज युद्धश्रमसे आक्रान्त थे; इसीसे रूखेर रहे। अब देखो, किस जोशोखरोशसे वह उत्सवमें भाग लेरहे हैं।' परन्तु राजाके भेदको वह क्या जानें?

महीनेभर तक खूब उत्सव हुआ। वटपुरसे राजा वीरसेन और रानी चंद्राभा भी आई थी। राजा उनकी संगतिमें रहकर आनंद विभोर होजाता था। आखिर राजाओंने मधुसे विदा चाही। सबका समुचित आदर सत्कार करके उसने विदा किया। वीरसेनपर अधिक स्नेह जतलाकर उसने उसे रोक रक्खा। राजमहलमें चंद्राभाको विश्राम मिला। कुछ समय वीतनेपर वीरसेनने फिर कहा-'प्रभो, अब आज्ञा दीजिये। मेरे पीछे न जाने राज्यमें क्या होता होगा।'

मधु बोला—'प्रियवर, मैं तुम्हारे वियोगको कैसे सहन करूँगा ? खैर, तुम्हारा जाना आवश्यक है, जाओ भाई ! थोड़े दिन राज्य प्रबन्ध देखकर लौट आना; तबतक चन्द्राभाके वस्त्राभूषण भी बनकर आजांयगे । तब ही मैं रानीकी विदा करूंगा ।'

राजाका अपनेपर अतिनेह देखकर वीरसेन उनकी बात अस्वीकार न कर सका । चन्द्राभासे जब वह विदा होने लगा तब वह रो पड़ी और आतुर हो कहने लगी—'प्रिय, मुझे यहां न छोड़ो, साथ ले चलो, वरन् धोखा खाओगे !' किन्तु वीरसेनने उसकी एक न सुनी । वह भोलाभाला स्वामीकी भक्तिमें अन्धा होरहा था । उसने कहा—'महाराज मधु धर्मज्ञ हैं । वह ऐसा पाप नहीं कर सक्ते । मैं उनको रुष्ट नहीं करूंगा !'

शास्त्रकारका वचन है: 'जो जासु रत्त सो तासु णारि ।' सचमुच प्रेम ही वह बन्धन है जो दो शरीरोंको एक बना देता है और दाम्पत्य सुख सिरजता है । जो जिसमें अनुरक्त है वस्तुतः वही उसकी पत्नी है । राजा मधुने चंद्राभा पर अतुल प्रेम दर्शाया । चंद्राभा उस प्रेमके सामने अपनेको संभाल न सकी । दोनों ही प्रेममत्त हो आनन्दकेलि करने लगे । मधुकी मनचेती हुई । चंद्राभा रनवासकी सिरमौर हुई ।

एक रोज मधु और चंद्राभा महलके झरोखेमें बैठे हुये थे । उन्होंने देखा कि मैला कुचैला फटे कपड़े पहने हुए एक मनुष्य विलाप करता हुआ जारहा है । ज्योंही वह महलके नीचे आया, रानी चंद्राभा उसे देखकर घबड़ा गई । उसका हृदय दयासे पसीज

गया । मधुसे उसने कहा—'कृपानाथ ! देखिये वह मेरा पति मेरे प्रेममें मत्त हुआ कैसा घूम रहा है ?'

मधुने चन्द्राभाकी यह बात सुनी अनसुनी करदी अवश्य; परन्तु वीरसेनके करुण रूपने मधुके दिलको ठेस पहुंचाई। वह उस चोटको भूलनेके लिए उठकर राजदरबारमें चला गया ।

रानी चंद्राभा भी उसके पीछे पीछे चली और राजदरबारके झरोखेमें जा बैठी ।

(४)

राजा मधुके सामने एक अपराधी उपस्थित किया गया। कोतवालने कहा—'महाराज ! इसने परस्त्रीके साथ व्यभिचार किया है । इसे क्या दंड मिलना चाहिये ?'

राजा बोले—'परस्त्रीको ग्रहण करना महा पाप है । इसलिये इसके हाथ पैर काटकर शिरोच्छेदनका दंड इसे मिलना चाहिये । '

कोतवाल—'तथास्तु' कहकर अपराधीको लेजाने लगा। उसी समय राजाने सुना—' जरा दर्पणमें मुंह देखिये ! ' इन शब्दोंने राजाको काठ मार दिया। दरबार बरखास्त हुआ । राजा उठे और सीधे राजमहलको चले गये । जाते ही चंद्राभासे बोले—'प्रिये ! तुम मेरा सच्चा हित साधनेवाली हो । मैं स्वयं महा पापी हूं, मैं न्याय करने-दंड देनेका अधिकारी नहीं हूं !'

चंद्राभा प्रेमसे बोली—'नाथ ! यह भोग मनुष्यको अंधा बना देते हैं । उसपर भोगनेमें यह भोग मीठे लगते हैं, परन्तु परिणाम

इनका बड़ा कडुवा होता है । राजन् ! साधुओंने भोग उन्हींको कहा है जो स्व और पर दोनोंको महा संताप देनेवाले हैं ।'

रानीके ये वचन सुनकर मधु भयभीत हो कांपने लगा। कुछ विचारकर वह बोला–प्रिये ! इस समय तुमने मुझे डूबनेसे बचा लिया । विषयभोग सचमुच दुःखोंके आगार हैं । कामकी तीव्र वासनाको जीतना ही श्रेय है । मैं अब तप धारण करके इस दुष्ट वासनाका नाश करूँगा !'

चंद्राभा मधुके इस पुण्यमई निश्चयको सुनकर हर्षसे गद्गद हो उनके गलेसे लिपट गई और बोली–'नाथ, तुमने खूब विचारा ! तुम्हारा कायापलट हुआ जानकर मैं प्रसन्न हूं ! चलो, हम दोनों अपने कृत पापोंका प्रायश्चित्त करें ।'

(५)

राजा मधु–"पतित पावन प्रभू ! मैं महान पापी हूं, पराई स्त्रीको घरमें डालनेका घोरतम पाप मैं संचय कर चुका हूं ! नाथ ! कोई उपाय है जो मैं इस पापसे छूटूं ?"

आचार्य विमलवाहन अयोध्याके सहस्राम्रवनमें विराजित थे । राजा मधुने चन्द्राभा सहित जाकर उनके चरणोंमें अपने पापका प्रायश्चित्त करना चाहा ! विमलवाहन महाराजने उत्तर दिया:–

'राजन् ! संसारमें ऐसा कोई पाप नहीं है जिससे मनुष्य छूट न सक्ता हो । अंधेरी रातके साथ उजाली रात और रातके साथ दिन लगा हुआ है । पाप अंधकार है, पुण्य प्रकाश है। पापसाम्राज्य शरीरके आश्रय है और पुण्य-प्रकाशका पवित्रस्थल आत्मभावपर

अवलंबित है। जबतक मनुष्य शरीरका दास रहता है-इन्द्रियोंकी गुलामी करता है, तबतक वह पापसे मुक्त नहीं होता; किन्तु जिस क्षण वह शरीरको विनाशशील और उसके सुखको विषतुल्य समझता है उसी क्षणसे वह आत्मभावको प्राप्त होता है, पुण्य प्रकाश उसे मिल जाता है! समझे राजन्! पाप कितना ही गुरुतर क्यों न हो, अपने हृदयको शुद्ध बनाइये और देखिये, पाप कैसे दुम दबाकर भागता है!'

मधु—'महाराज! हम दोनोंके हृदय पापसे घृणा करते हैं।'

आ०—तो राजन्! तुम्हारा उद्धार होना सुगम है। परस्त्रीको घरमें डाल देना अथवा परपुरुषके साथ रमण करना, यह इन्द्रिय-वासनाकी अंधदासताकी निशानी है। मोहनीयकी महत् कृपाका यह परिणाम है कि पुरुष स्त्री एक दूसरेको रमण करनेके लिये व्याकुल होजाते हैं। इस आकुलताको सीमामें रखकर विषयभोगोंको भोगनेका विधान संसारी जीवोंने अपनी सुविधाके लिये बना लिया है। इसी सीमाका नाम विवाह है और इस सीमाका उलंघन करना विषयवा-सनाके तीव्रतम उद्वेगका सबूत है। किन्तु हैं सब ही विषयवासनाके गुलाम; कोई कम, कोई ज्यादा! यदि विषयवासनाका कम शिकार बना हुआ मनुष्य धर्मकी आराधना करके पाप-मोचन कर सक्ता है तो उसमें अधिक सना हुआ मनुष्य क्यों नहीं?

मधु—'नाथ! लोग कहते हैं कि इससे विवाह मर्यादा नष्ट होजायगी!'

आ०—'पापभीरु! व्यभिचारसे हाथ धोलेनेवाले मनुष्यको धर्मा-राधना करने देनेसे विवाह मर्यादा कैसे नष्ट होगी? संसारमें गल्ती

किससे नहीं होती ? गलतीको सुधार लेना ही बुद्धिमत्ता है । अब कोई गल्ती सुधारनेको तत्पर हो तो क्या उसे रोकना ठीक होगा ?'

मधु—'नहीं महाराज ।'

आ०—बस, पापमोचन करनेके लिये धर्मकी आराधना प्रत्येक मनुष्यको—चाहे वह स्त्री हो या पुरुष करने देना चाहिये । कौशाम्बीके राजा सुमुखकी कथा क्या तुमने नहीं सुनी ?'

मधु—'महाराज ! उनकी क्या कथा है ?'

आ०—' उनकी कथा भी तुम जैसी है । सुनो—कौशाम्बीमें जब राजा सुमुख राज्य करता था तब वहां वीरक नामका सेठ रहता था । सेठकी पत्नी वनमाला अत्यन्त रूपवती थी । सुमुखने वनमालाको देखा और वे दोनों एक दूसरेपर आसक्त होगये । वनमाला वीरकको छोड़कर सुमुखके पास चली आई और उसकी रानी बनकर रहने लगी ! वनमाला और सुमुखने विवाहकी पवित्रताको अवश्य नष्ट कर दिया; किन्तु फिर भी उन्होंने अपनी विषयवासनाको पशुतुल्य असीम नहीं बनाया दाम्पत्य जीवनको उन्होंने महत्व दिया । पति-पत्नीरूप वे धर्मसेवन करनेमें अपना समय और शक्ति लगाने लगे। तपोधन ऋषियोंकी उन्होंने पूजा-वंदना की और उन्हें आहारदान देकर महत् पुण्य संचय किया । परिणामस्वरूप वे दोनों महापातकी भी उस पुण्य प्रभावसे मरकर विद्याधर और विद्याधरी हुये । राजन् ! धर्मकी आराधना निष्फल नहीं जाती । जिसने पाप किये हैं उसे तो और भी अधिक धर्मको पालना चाहिये । तुमने यह अच्छा विचार किया है। 'आओ, मुनिव्रत अंगीकार करो और पापोंका नाश कर डालो ।'

राजा मधुने मस्तक नमा दिया. वस्त्राभूषण उतार फेंके। पांच मुट्ठियोंसे बालोंको उखाड़कर उन्होंने शरीरसे निर्ममता और आत्म-शौर्यको प्रकट किया। विमलवाहन महाराजने उन्हें मुनिदीक्षा दी। उपस्थित मंडलीने जयघोष किया, मधु मुनियोंकी पंक्तिमें जा विराजमान हुये !

बेचारी चन्द्राभा आंसू बहाती अकेली खड़ी यह सब कुछ देख रही थी; किन्तु आजकलकी तरह उसे दर-दर भटकने और और अधिक पाप कमानेके लिये नहीं छोड़ा गया था। वह योग्य अवसरकी प्रतीक्षामें थी। अवसर पाते ही उसने भी दीक्षाकी याचना की ! आचार्य महाराजने कहा—

"बेटी ! तेरा निश्चय प्रशंसनीय है. स्त्रियाँ भी धर्माचारका पालन करके पापके संतापसे छूट सक्ती हैं।"

उपरान्त चन्द्राभा भी आर्यिका होगई. कालीनागिनसी अपनी लम्बीर केशरश्मियोंको उसने स्व-परको संतापदायक जानकर नोंच फेंका ! शरीरसे निस्पृह हो वह तप तपने लगी !

मुनिव्रत धारण करके मधुने उग्रोग्र तपश्चरण किया। वह अब निरंतर आत्मोद्धार और लोकोद्धार करनेमें लग गये। आखिर कृश-काय होकर वह बिहारदेशके प्रसिद्ध तीर्थ सम्मेदशिखर पर्वत (पार्श्व-नाथहिल) पर आ विराजे। अपने अतिम समयमें उन्होंने विशेष परिणाम विशुद्धिको प्रकट किया और समाधि द्वारा शरीर छोड़कर ११ वें आरण स्वर्गमें देव हुये ! परदारालंपटी मधु धर्मकी शरणमें आकर अतुल ऐश्वर्यका भोक्ता बना और वहांसे चयकर श्रीकृष्ण नारायणका प्रद्युम्न

नामक पुत्र हुआ ! मुनि होकर प्रद्युम्नने मोक्षपद पाया, और आज व्यभिचारी मधुका जीव सिद्ध भगवानके रूपमें त्रिलोकपूज्य होरहा है ! धर्मका माहात्म्य अचिन्त्य है ! महान रोगी ज्यों अमृतौषधिको पाकर स्वस्थ्य होजाता है त्योंही महान पापी धर्म निर्मलीको पाकर अपनेको पापमलसे निर्मल कर लेता है। मधुकी तरह चंद्राभा भी सद्गतिको प्राप्त हुई ! धन्य हैं वे !

[४]

श्रीगुप्त ।×

(१)

'तुम चोर हो !'

'कौन मुझे चोर कहता है वह सामने आये।'

'मैं कहता हूं। मैं-वैजयन्तीका राजा नल जिसने तेरे अपराधोंको कई वार क्षमा किया है।'

'धन्यवाद है, राजन ! आपकी उदारताके लिये; परन्तु इसका अहसान मुझपर नहीं मेरे पिता और आपके मित्र महीधरपर होगा, सचमुच मैंने कभी कोई अपराध किया ही नहीं।'

'कृतघ्नी ! दुष्ट ! पिताके पवित्र नामको कलंकित करता है ! तू पितृमोहका अनुचित लाभ उठाना चाहता है। अच्छा, दे अपने निर्दोष होनेका प्रमाण !'

'जलती हुई अग्निमेंसे निकलकर मैं अपनी निर्दोषताका प्रमाण

× श्वेताम्बराचार्य भवदेवसूरिके 'पार्श्वचरित्' के आधारसे।

दूंगा। राजन्! मैं अपने पिताके नामको कलंकित नहीं लेकिन उज्ज्वल करूंगा।'

उपस्थित लोगोंने सेठ महीधरके पुत्र श्रीगुप्तके इस निश्चयको सुनकर दांतों तले उंगली दबा ली, किन्तु राजा नलपर इसका कुछ भी असर न हुआ। उसे अच्छी तरह मालूम था कि श्रीधर चोरी करनेका बेहद आदी होगया है। वह एक नम्बरका जुआरी है। इसलिये उसके अतिसाहसकी निस्सारता प्रगट करनेके लिये उन्होंने अग्निचिता बनाये जानेकी आज्ञा देदी। श्रीगुप्त वैसा ही दृढ़ रहा। चिता तैयार हुई। राजाने परीक्षा देनेकी आज्ञा दी। श्रीगुप्त बेधड़क हो अग्निमें प्रवेश कर गया!

जब वह अग्निमे बाहर निकला तब उसका शरीर कहीं जरासा भी नहीं जला था। लोगोंने उसकी 'जय' बोली! राजा यह देखकर परेशान हुआ। दरबार बरखास्त होगया! श्रीधर निडर होकर अपने चौर्यकर्म और द्यूतव्यसनमें लीन होगया। लोग कहने लगे, वह जादूगर है!

(२)

'आज फिर वही अपराध! जानते हो चोरीकी सजा? प्राणदण्ड?'

'मुझे उसका डर नहीं मैं निर्दोष हूं!' श्रीधरने कहा।

राजा बोले—'आज सारी वैजयन्ती तुम्हारे दोषको पुकार पुकार कर कह रही है। अब तुम निर्दोष कैसे?'

श्रीधर—'राजन्! यदि मैं निर्दोष नहीं तो अग्नि मुझे जला मारेगी!'

राजा—अच्छा, तुम्हारी यही इच्छा है तो हमें कोई विरोध नहीं।'

किन्तु श्रीधरके मुखपर आज निर्भीकता नहीं थी। अग्निचिता तैयार हुई। श्रीधरने उसकी लाल लपटोंसे अपना हाथ छुआया, वह झुलस गया। उसकी हिम्मत काफूर होगई। चिता धू-धू करके जल रही थी; किन्तु श्रीधर मुंह लटकाये खड़ा था।

राजाने कड़क कर कहा—'श्रीधर! तुम निरपराधी हो तो अब अग्निमें प्रवेश क्यों नहीं करते? तुमने स्वयं यह परीक्षा देना कबूल की है?'

श्रीधर—'कबूल की थी राजन्! मंत्रवादके बलपर! किन्तु आज दुष्ट कुशलिन्ने मुझे धोखा दिया है!'

राजा—'कुशलिन् कौन?'

श्री०—'कुशलिन् एक मंत्रवादी है। मैं अपराधी हूं, मैंने चोरियां की हैं, जूआ खेला है, उसके मंत्रकी सहायतासे मैं आपको धोखा देता आया। किन्तु आज स्वयं उस मंत्रवादीने मुझे धोखा दिया। राजन्! मुझे जल्दी ही प्राणदण्ड देकर इस अपमानसे मुक्त कीजिये।'

राजा—'छिः श्रीगुप्त! तुम कितने बुरे हो! पहले ही तुमने अपना अपराध क्यों नहीं स्वीकार किया? खैर, मैं तुमपर फिर भी दया करता हूं। जाओ, तुम आजन्म वैजयन्तीसे निर्वासित किये जाते हो।'

सिपाही अपराधीको पकड़कर ले गये, वैजयन्तीकी जनताने इस नामी चोरके पकड़े जानेपर संतोषकी सांस ली।

(३)

'आह ! वह घर, वह माताका प्यार, पिताका दुलार, बचपनके साथियोंका सलौना संग, और आह ! वह द्यूतागार ! अब कभी देखनेको नहीं मिलेगा ! अरे सिपाहियो ! जरा मुझपर करुणा लाओ, दो घड़ी इस प्यारी वैजयन्तीकी शोभा तो देख लेने दो ! अच्छा भाई ! नहीं ठहर सक्ते तो न सही—लो, मैं यह चला ! अरे ! यह कौन ? माताजीकी पालकी है ! अब ममता जताने आई है। आने दो, इसे भी ! रोती क्यों हो, मां ! ममता थी तो क्यों नहीं छुड़वा लिया पितासे कह कर ! अच्छा, मैं पापी हूं—दुराचारी हूं। मुझे जाने दो जहन्नममें। मेरा समय खराब क्यों करती हो ? यह क्या ? इसे लेकर क्या करूंगा ? परदेशमें पुरुषार्थ काम देगा। खैर, लाओ। लो, अब जाता हूं ! सिपाहियो ! क्यों नाकमें दम किया है। अब श्रीधरकी छाया भी तुमको नहीं मिलेगी। पर यार ! एक बात ठीक २ बताओ। वह बदमाश कुशलिन किधर गया ? सालेने चार पैसेके लोभमें मेरी आबरू मिट्टीमें मिला दी ! सालेका खून पीऊंगा, तब मुझे चैन मिलेगी। अच्छा, इधरको गया है तो मैं भी इधर ही जाऊंगा।

श्रीधर यूंही बड़बड़ाता हुआ वैजयन्तीको सदाके लिये छोड़कर चल दिया। वह कुशलिन मंत्रवादीको उस ओर गया जानकर बेतहाशा उधरको चला गया। सूरज छिपते २ वह गजपुर जा पहुंचा और वहीं कहीं पड़कर उसने रात विताई।

(४)

गजपुरके चौराहे पर अपार भीड़ थी। एक कुशल मंत्रवादी

तरह तरहके जादू भरे करतब दिखाकर लोगोंको आश्चर्यमें डाल रहा था। जिस समय श्रीगुप्त वहां पहुंचा उससमय वह कह रहा था कि "भाइयो ! देखो, यह युवक तुम्हारे सन्मुख है ! खूब मजबूती-से इसे पकड़ लो ! यह देखो गायब न होजाय !"

इसके साथ ही मंत्रवादीने युवकके मुँहपर हाथ घुमाया। हाथ घुमानेमें अदृश्यकारिणीवटिका उसके मुँहमें उसने घुसेड़ दी ! युवा लोगोंकी नजरोंसे ओझल होगया। लोग आश्चर्यमें पड़ गये। इतनेमें श्रीगुप्त भीड़को चीरता हुआ गोलके भीतर जा खड़ा हुआ और बोला-' भाइयो ! इसने युवाको अदृश्य किया है। मैं इसको अदृश्य करता हूं ! देखिये मेरी करामात। '

लोग आँखें फाड़कर उसकी ओर देखने लगे-दूसरे क्षण वे चिल्ला उठे-' अरे यह क्या करते हो ? बेचारेको क्यों मारते हो ! '

क्रोधमें भभकते हुए श्रीगुप्तने कहा-' यह दुष्ट है, इसने मेरा जीवन नष्ट किया है-मैं इसका जीवन नष्ट करता हूं। ' और इसके साथ ही उसने मंत्रवादीको मार डाला ! वह मंत्रवादी श्रीगुप्तका शत्रु कुशलिन था।

' खून होगया ' के भयंकर समाचार गजपुरके कोने २ में पहुंच गये। राजकर्मचारियोंने श्रीगुप्तको गिरफ्तार किया। न्यायालयमें उसने अपना अपराध स्वीकार किया। श्रीगुप्तको फांसीकी सजा मिली !

(५)

' चर्रर्रर ' करके पेड़की वह डाल टूट गई, जिससे लटकाकर श्रीगुप्तको फांसी दीगई थी। श्रीगुप्तके प्राण बच गये ! संसारमें अब उसे अपना कोई नहीं दिखता था। वह एक ओर वनमें घुसकर चल

वनमें बहुत दूर चले जानेके बाद श्रीगुप्तको एक मुनिराजके दर्शन हुये। वह उनके चरणोंमें बैठ गया। मुनिने पूछा—'वत्स! तुम कौन हो?'

श्रीगुप्तने कहा—'नाथ! मैं क्या बताऊँ? मेरा इस दुनियांमें कोई नहीं है।'

मुनि—'वत्स! तुम ठीक कहते हो, संसारमें कोई किसीका नहीं है। यह शरीर जिसको तुम अपना मानते हो, यह भी तुम्हारा नहीं है। तुम्हारा आत्मा अकेला-शाश्वत-ज्ञातादृष्टा है। तुम्हारे आत्माकी शक्ति तुम्हारी रागद्वेषमयी कषायजनित परणतिने नष्ट कर रक्खी है। संसारमें किसपर क्रोध करते हो? क्रोध करना है तो इस कषायपरणति पर करो। क्रोध, मान, माया, लोभका नाश करो। यही तो तुम्हारे शत्रु हैं! प्रेम करना है तो अपनी वस्तुसे प्रेम करो जो कभी तुमसे दूर नहीं होगी। तुम्हारी आत्मा ही तुम्हारी वस्तु है, उसका तुम्हारा कभी विछोह नहीं होगा। उसमें तुममें अन्तर ही नहीं है, बोलो करोगे उससे प्रेम?'

श्री०—'नाथ! जो आप कहेंगे वह करूंगा, संसारमें आप ही शरण हैं। मैं हत्यारा हूं, मनुष्यहत्या मैंने की है, यमके दूत मेरे पीछे लगे हुये हैं।'

मुनि—'अरे भोले! पाप और यम तो हरएकके पीछे लगे हुये हैं। इस अनादि संसारमें कौन हत्यारा नहीं है? पर अब नरभव पाकर हत्यारा बना रहना ठीक नहीं है। नरतन सद्गुणोंसे शोभायमान होता है। नीतिका बचन है:—

'गुणैरिह स्थानच्युतस्यापि जायते महिमा महान।
अपि भ्रष्टं तरोः पुष्पम् न कैः शिरसि धार्यते ॥'

गुणोंके कारण मनुष्य महान् महिमाको प्राप्त होता है, यद्यपि वह स्थानसे च्युत भले ही हुआ हो। पेड़से गिरी हुई (सुगंधमय) कलीको कौन नहीं अपने सिरपर धारण करता? सो भाई, धर्ममार्गसे च्युत होनेपर भी यदि तुम गुणोंको अपनाओगे–धर्मकी आराधना करोगे तो निस्सन्देह तुम्हारी महिमा अपार होगी!

श्री०–'प्रभो! मुझे महिमा नहीं, आत्मकल्याणकी वाञ्छा है।'

मुनि–'वत्स, तुम निकट भव्य हो! आओ, अपनी काया पलट करो, त्यागो इस पापभेषको। बनावट ही तो पाप हो। प्रकृत रूपमें रहो और अपने आत्माके प्रकृतभावका आराधन करो, तुम्हारा कल्याण होगा।'

श्रीगुप्त मुनिराजके निकट कपड़े लत्ते त्यागकर साधु होगया। उसने अपने हृदयको भी शान्त और उदार बना लिया। उसने खूब तप तपा, जिससे उसके पापमल धुल गये और वह एक बड़ा ज्ञानी महात्मा बन गया! गुरु महाराजकी उदारताने एक हत्यारे ज्वारीको महात्मा बना दिया! धन्य हैं पतितपावन गुरु और धन्य है उनका धर्म!

(६)

वैजयन्तीमें धूम मच गई कि एक बड़े पहुंचे हुये धर्मात्मा साधु आकर राज्योद्यानमें ठहरे हैं। वह बड़े ज्ञानी हैं और जो जाता है उनके दर्शन पाकर निहाल होजाता है। सेठ महीधरने भी साधु महाराजकी यह प्रशंसा सुनी। वह भी उनके दर्शन करने गये।

जब वह उनके निकट पहुंचे तो उन्हें अपने नेत्रोंपर विश्वास न हुआ। उनका चोर और जुआरी पुत्र साधु होगा, यह वह सहसा न समझ पाये। प्रकृतिके रहस्यको समझना है भी कठिन। सेठने फिर गौरसे देखा। निश्चय वह श्रीगुप्त था। सेठके नेत्रोंमें मोहके आंसू आगये।

श्रीगुप्तने भी उन्हें देखा, वह बोला—'देखो, कैसी भ्रान्ति है; लोग माता, पिता, पुत्र, पुत्री, पत्नी आदिका रिश्ता बनाकर उनसे मोह करते हैं और वैसे ही मनुष्य जब उनके घरके नहीं होते तो आंख उठाकर भी उनकी ओर नहीं देखते। एक बालक जो उनके घरमें जन्मा है यदि वही पड़ोसीके जन्मता तो उससे वह कुछ भी रिश्ता नहीं रखते। किन्तु भाई! बालक तो वही है, यह विराग क्यों? इसीलिये न कि उससे उनका कोई स्वार्थ नहीं सधेगा। संसारकी यही विडम्बना है। यहां स्वार्थका ताण्डवनृत्य होरहा है। संकीर्णहृदय विश्वप्रेमका महत्व नहीं समझते, वह साधुओंमें भी अपना और परायापन देखते हैं! पर साधु तो प्रकृतिके जीव हैं उनमें ममत्व कैसा? ममत्व करते हो तो उन जैसे होजाओ।'

महीधर यह धर्मप्रवचन सुनकर पुलकितगात हो श्रीगुप्तके चरणोंमें गिर पड़ा। राजा नलने जब यह वार्ता सुनी तो वह भी उनकी वन्दना करने आया। पापमें लिप्त मनुष्य भी अवसर मिलनेपर कितनी आत्मोन्नति कर सक्ते हैं, इस बातको उन्होंने श्रीगुप्तमें प्रत्यक्ष देखा। राजा नलने अपने राज्यमें पापियोंको धर्मशिक्षा देनेका विशेष प्रबन्ध किया। मंदिरोंमें पहुंचकर वह अपना आत्मकल्याण करने लगे।

श्रीगुप्तने अपनी आयु सात दिन शेष रही देखकर विशेष तपश्चरण और ज्ञानाराधन किया और शुभपरिणामोंसे शरीर त्यागकर वह स्वर्गमें देव हुआ। ज्ञानियोंका कहना है कि आगे वह सिद्ध परमात्मा होगा! लोक उसकी वन्दना करेगा।

[५]

चिलाति कुमार।×

(१)

' अरे, यह कौन बला है ? '

' हूं–हूं ! '

' कलसा अटका तो कहीं नहीं है। किसीने पकड़ रक्खा है। मालूम होता है, कोई कुयेमें गिर पड़ा है। '

' खींचो—खींचो ! '

' भाई, ठहरो। मैं अभी तुम्हारे निकलवानेका प्रबंध करती हूं।'

यह कहती हुई युवती तिलका जल्दी जल्दी एक ओरको चली गई। वह भीलोंके सरदारकी कन्या थी। राजगृहके पासमें कहीं गहन वनके बीच उन भीलोंकी पल्ली थी। एक तरह दुनियांसे बिल्कुल न्यारे वे वहां बस रहे थे। तीरतरकससे युक्त वे हरसमय शिकारकी फिराकमें रहते थे। यही उनका धन्दा था। बापदादोंसे उसको उन्होंने सीखा था–वे और कुछ अधिक नहीं जानते थे। तिलकाका बाप उन भीलोंका सरदार था। तिलका दौड़ी दौड़ी गई

× आराधना कथाकोषकी मूल कथाके आधारसे।

और उसने कुयेमें किसीके गिरनेकी बात कही। भील पल्लीमें भगदड़ मच गई। देखते ही देखते कुयेमें गिरा हुआ आदमी निकाल लिया गया। वह भील नहीं, कोई आर्य सज्जन था। राजोंका-सा उसका ठाठ था; पर था वह बेहाल! भीलोंने देखकर कहा—'अरे, यह तो कोई राजा है!'

सरदारने पूछा—'भई, तुम कौन हो? कहांसे आये हो?'

बदहोश मनुष्यने लड़खड़ाते हुये कहा—'उपश्रेणिक-राजगृह।'

'राजगृहका यह कोई राजकुमार है'—यह जानकर भील सरदार उन्हें अपने डेरोंमें ले गया और उनकी सेवा-सूश्रूसा कराने लगा। सचमुच यह नवागंतुक मगधके सम्राट् उपश्रेणिक क्षत्रौजस थे। एक बदमाश घोड़ेने उन्हें कुयेमें ला डाला! वहांसे उनका उद्धार तिलकाने किया!

(२)

'तिलका!'

'क्यों? क्या है? तुमने तो घरका काम करना भी मुहाल कर दिया।'

'अब काम करके क्या करोगी? आओ, यहां आओ मेरे हृदयकी रानी!' तिलकाको बरबस अपनी ओर खींचते हुये उपश्रेणिकने कहा।

भील पल्लीमें रहते हुये उपश्रेणिकका प्रेम युवती तिलकासे हो गया। उपश्रेणिक उसके प्रेममें ऐसे मस्त हुये कि उन्होंने उसको अपनी रानी बनानेकी ठान ली!

तिलकाने कहा—' पिताजीसे पूछ लिया है ? उसपर मैं जन्मकी भीलनी—तुम्हारे रनवासमें मेरा कहां ठिकाना ? '

उपश्रेणिकने तिलकाके कपोलोंपर प्यारका चपत जड़ते हुये कहा—'अभीतक पिता और जातिके भयमें ही पड़ी हो । लो, तुम्हारे पिताको आज राजी कर लूंगा । और भीलनी हो सो क्या ? हो तो गुणवती ! कौन तुम्हें देखकर आर्य कन्या नहीं कहेगा ?'

तिलका—' मुझे तो कुछ भी भय नहीं है; परन्तु सोचो तो, आपकी क्षत्री-रानी मेरेसे कैसा व्यवहार करेंगी ?'

उप०—'मेरे रहते तुम्हारा कौन अपमान कर सक्ता है ?

उपश्रेणिकने वात भी पूरी नहीं कर पाई कि भील सरदार वहां आपहुंचा । तिलका सहम गई; परन्तु उपश्रेणिकने तिलकाके विवाहका प्रस्ताव उसके सन्मुख उपस्थित कर दिया ।

वह बोला—'मैं भील, तुम मगधके राजा ! मेरा तुम्हारा सम्बन्ध कैसा ?'

उपश्रेणिकने कहा—'भूलते हो सरदार ! हम तुम हैं मनुष्य ही । मनुष्योंमें कोई तात्विकभेद नहीं है, गुणोंकी हीनाधिकता और राष्ट्रव्यवस्थाके लिए वर्ण-जाति आदिकी कल्पना करली गई है । तुम्हारी कन्या गुणवती है, उसे ग्रहण करनेमें मुझे गौरव है । शास्त्रकी भी आज्ञा है कि 'किं कुलु जोइज्जइ अकुलीणवि थीरयणु लइज्जइ ।' अर्थात् कुलका क्या देखना ? यदि कन्या अकुलीन भी स्त्री रत्न हो तो उसे ग्रहण कर लेना चाहिये । तीर्थंकर चक्रवर्ती श्री शान्तिकुन्थु आदिने स्वयं म्लेच्छ कन्याओं तकको ग्रहण किया था । चरमशरीरी

नागकुमारने एक वेश्याकी कन्यासे विवाह किया था। तुम्हारी कन्या तो कुलीन और गुणवती है, तुम निश्चिन्त होकर मेरा प्रस्ताव स्वीकार करो। विजातीयविवाह धर्म और समाज दोनोंके लिये हितकर है। यह सम्बन्ध क्या भीलोंके जीवनको उन्नत नहीं बनायेगा?'

सरदार बोला—'राजन्! आपका आग्रह विशेष है तो एक शर्तपर मैं अपनी कन्या तुम्हें प्रदान करसक्ता हूं।'

उपश्रे०—'बताओ, वह शर्त।'

सरदार—'शर्त यही कि तिलकाका पुत्र ही मगधका सम्राट् होगा!'

उपश्रे०—'मंजूर, यही होगा।'

मांगलिक तिथिको उपश्रेणिकका ब्याह तिलकाके साथ होगया। भील-सेनाके साथ नववधूको लेकर राजा राजगृह पहुंचे। खूब आनन्दोत्सव मनाया। तिलकाके साथ वह भोग भोगनेमें तल्लीन होगये। तिलकाको राजप्रेमकी निशानी भी मिल गई। उसने अपने पुत्रका नाम चिलाति रक्खा। युवराज भी वही हुआ। उसके सौतेले दूसरे भाई श्रेणिकको निर्वासित कर दिया गया।

(३)

राजगृहके चौराहेपर अपार जनसमूह एकत्रित था। एक ऊंचेसे मंचपर राजगृहके प्रमुख पुरुषाग्रणी और पुराने मंत्री बैठे हुये थे। एक युवक जिसके मुखमण्डलपर प्रतिभा नृत्य कर रेही थी, जनताको सम्बोधित करके कह रहा था—"भाइयो! राजाका स्थान पिताके तुल्य है। पिताका कर्तव्य है कि वह अपने आश्रय रहनेवाले बालक बालिका, पुरुष स्त्री सबकी रक्षा और समृद्धिका ध्यान रक्खे। उसी

प्रकार राजाका कर्तव्य प्रजाकी समुचित रक्षा करना, उसके दुखोंको मेंटना और आवश्यक्ताओंको पूरी करना है। यदि राजा अपना कर्तव्यपालन नहीं करता है, तो वह प्रजाका पिता कैसे है? भाइयो! चिलातीकुमारने अपने कुकर्मोंसे यह सिद्ध कर दिया है कि वह राजा कहलाने योग्य नहीं है। वह कर वसूल करना जानता है, आपकी बहूबेटियोंकी इज्जत लेना जानता है और जानता है आपको मनमाने दुःख देना। क्या आप यह अत्याचार सहन करेंगे? मां-बहनोंका अपमान आप सहन करेंगे?"

प्रजाने एक स्वरसे कहा-'नहीं, हरगिज नहीं!'

युवकने कहा-'तो फिर अपने नेताओंका कहना मानो। नगरके अग्रणी पुरुषों और पुरातन राजमंत्रियोंने यह निश्चय कर लिया है कि चिलातिको राजच्युत किया जाय और श्रेणिक बिम्बसारको बुलाकर उन्हें राजा बनाया जाय!'

प्रजा चिल्ला उठी-'बिल्कुल ठीक! बुलाओ श्रेणिकको।'

युवक-'परन्तु श्रेणिक आकर क्या करें? आप धन और जनसे उनकी सहायता करनेको तैयार होइये। शपथ लीजिये कि हम प्राण रहते श्रेणिकका साथ देंगे।

प्रजाने यही किया। श्रेणिक बुलाये गये। प्रजाने उनका साथ दिया। चिलाति अपने भुक्तभोगी सैनिकोंको लेकर लड़ा जरूर, परन्तु उसका पाप उसके मार्गमें आड़ा आया हुआ था। हठात् उसकी पराजय हुई और वह मैदान छोड़कर एक ओर भाग गया!

(४)

विपुलाचल पर्वतपर जैन ऋषियोंका आश्रम था। वहांपर जैन मुनिगण निरंतर तप तपा करते थे। संसारमें अपनेको अशरण जानकर चिलाति उन निर्ग्रन्थ गुरुओंकी शरणमें पहुंचा। उसने आचार्य महाराजसे दीक्षाकी याचना की। गुरु महाराजने उसे निकट भव्य जानकर दीक्षा प्रदान की। चिलातिकुमारका हृदय वैराग्यके गाढ़े रंगसे सराबोर था। अब उन्हें इन्द्रियोंके भोग काले नागसे दिखते थे। उन्होंने खूब तप तपा और जिनवाणीका विशेष अध्ययन करके ज्ञानोपार्जन किया। गुरुमहाराजके साथ यत्र-तत्र विहार करके उन्होंने अनेक जीवोंको सुखी जीवन बिताना सिखाया। भूले भटकोंको रास्ता लगाया, और अनगिनती लोगोंका उद्धार किया। अब वह 'योगीराट्' कहकर पूजे जाने लगे। यह कोई नहीं कहता था कि यह भीलनीके जाये हैं, पापी हैं, राजभ्रष्ट हैं। जो भी उनके दर्शन करता उनके गुणोंपर मुग्ध होजाता!

इस प्रकार एक दीर्घ समय तक मुनिराज चिलातीने अपना और पराया हित साधन किया। अन्तमें समाधिका आश्रय लेकर इस नश्वर शरीरको छोड़कर सद्गतिको प्राप्त किया! धन्य है वे! उन्होंने धर्मके प्रकाश द्वारा अपनेको उज्ज्वल और अमर बना लिया! और साथ ही कुल जातिकी विशिष्टताकी निस्सारता प्रमाणित कर दी!
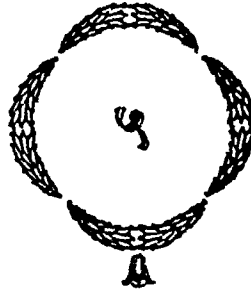
प्रकृतिके अंचलसे !

"ऊँचा उदार पावन, सुख-शाँति-पूर्ण प्यारा;
यह धर्म-वृक्ष सबका, निजका नहीं तुम्हारा !
रोको न तुम किसीको, छायामें बैठने दो;
कुल-जाति कोई भी हो, संताप मेंटने दो !!"

कथायें:—

१-उपाली।
२-वेमना।
३-चामेक वेश्या।
४-रैदास।
५-कबीर।

[?

उपाली !*

तीर्थङ्कर भगवान महावीरके समयमें महात्मा गौतम बुद्ध एक अनन्य प्रख्यात् मतप्रवर्तक थे। उन्होंने बौद्धमतकी स्थापना करके जीवमात्रको अपने मध्यमार्गका सन्देश सुनाया था। हर प्रकारके मनुष्य उनकी शरणमें पहुंचे थे। उन्होंने भी यह सिद्धांत प्राकृत माना था कि जीवमात्र धर्मकी आराधना करके उच्चपदको पासक्ता है। म० बुद्धके शिष्योंमें एक शिष्य था जो जन्मसे नीच समझा जाता था। लोग उसे शूद्र कहते थे; किन्तु उसने अपनेमें गुणोंकी वृद्धि करके अपनेको लोकमान्य बना लिया था और इसतरह लोगोंकी इस धारणको गलत सिद्ध कर दिया था कि दुनियां जिनको नीच कहती है वे वस्तुतः नीच नहीं हैं। वे भी अपनी आत्मोन्नति करके उच्च और प्रतिष्ठित पदको पासक्ते हैं।

उस शिष्यका नाम उपाली था और उसका जन्म एक नाईके घरमें हुआ था। राहुल कुमारोंको प्रव्रजित करके म० बुद्ध मल्ल देशमें चारिका करते अनूपियाके आम्रवनमें पहुंचे। वहांके अनुरुद्ध आदि शाक्यकुमार बौद्ध दीक्षा लेनेको आगे आये। उपाली उनका सेवक था। उनके उतारे हुये वस्त्र भूषणोंको जब उसने उनके कहने पर ग्रहण किया तो उसे ध्यान आया कि 'इतना धन देखकर प्रचंड शाक्य मुझे जीता न छोड़ेंगे। जब मेरे स्वामी यह शाक्यकुमार

* 'बुद्धचर्या' के आधारसे।

ही प्रव्रजित होरहे हैं तो मैं क्यों न दीक्षा लूं ?' यह सोचकर उपाली उनके पास लौट गया । कुमारोंने पूछा :—

'उपाली ! किस लिये लौट आये ?'

उ०—'आर्य पुत्रो ! लौटते समय मुझे शाक्योंकी चंडताका ध्यान आया. सो धनका मोह छोड़कर मैं म० बुद्धसे प्रवर्ज्या लेने आया हूं ।'

कु०—'उपाली ! अच्छा किया, जो लौट आये ।'

इसके बाद वे शाक्यकुमार उपालीको लेकर गौतमबुद्धके पास पहुंच कर बोले—"भन्ते ! हम शाक्य अभिमानी होते हैं । यह उपाली नाई है, चिरकाल तक हमारा सेवक रहा है । आप इसे पहिले प्रव्रजित करायें, जिससे कि हम इसका अभिवादन करें और अपने कुल अभिमानको हम मर्दित कर सकें ।'

'तथास्तु' कहकर गौतमने पहले उपाली ही को बौद्ध भिक्षु बनाया । भिक्षु होनेके उपरान्त उपाली बौद्ध सिद्धांतके अध्ययन और चारित्रको पालन करने में दत्तचित्त होगया । थोड़े ही समयमें वह संघमें अग्रणी गिना जाने लगा । बौद्ध महाश्रावकों (भिक्षुओं) में उनको दशवां स्थान प्राप्त हुआ । स्वयं गौतम बुद्धने उनके गुणोंकी प्रशंसा की । जब वह गृद्धकूट पर्वतपर थे तब एक रोज़ भिक्षुओंसे बोले:—

"देख रहे हो तुम भिक्षुओ ! उपालिको, बहुतसे भिक्षुओंके साथ टहलते ?"

"हाँ भन्ते !"

"भिक्षुओ ! यह सभी भिक्षु विनयधर हैं । उपाली विनयधर है ।"

बौद्ध चारित्र नियमोंका ठीक ज्ञान उपाली ही को प्राप्त था। कपिलवस्तुका नाई—यह उपाली ही विनयधरोंमें प्रमुख हुआ! गुणोंने उसे प्रतिष्ठित पदपर ला बिठाया। शुभ अध्यवसायसे क्या नहीं प्राप्त होता? बुद्धके बाद उपालीने ही विनय धर्म (बौद्धचारित्र) का स्वरूप संघको बताया था।

उपालीने अपने उदाहरणसे चारों ही वर्णोंकी शुद्धि प्रमाणित कर दी। चहुं ओर यह बात प्रसिद्ध होगई। कट्टर ब्राह्मणोंको यह बात बहुत खटकी। श्रावस्तीमें नाना देशोंके पांचसौ ब्राह्मण आ एकत्र हुये। वहां उन्होंने गौतमबुद्धसे चारों वर्णोंकी शुद्धि (चातुर्वण्णी सुद्धि) पर शास्त्रार्थ करना निश्चय किया। ब्राह्मणोंने अपने प्रकाण्ड पंडित आश्वलायन माणवकको शास्त्रार्थ करनेके लिये तैयार किया। आश्वलायन माणवक बड़े भारी ब्राह्मणगणके साथ गौतमबुद्धके पास पहुंचे। उनसे बोले कि 'ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण है, इस विषयमें गौतम आप क्या कहते हैं?'

बुद्ध-"आश्वलायन! ब्राह्मणोंकी ब्राह्मणियां ऋतुमती, गर्भिणी, जनन करती, पिलाती देखी जाती हैं। योनिमे उत्पन्न होते हुये भी वह ब्राह्मण ऐसा कहते हैं यही आश्चर्य है!"

"किन्तु ब्राह्मणोंकी मान्यता तो वैसी ही है।"

"तो क्या मानते हो आश्वलायन! तुमने सुना है कि यवन और कम्बोजमें और अन्य सीमान्त देशोंमें दो ही वर्ण होते हैं।*

* जैनोंके 'तत्वार्थसूत्र'में मनुष्य जातिके आर्य और अनार्य—यही दो भेद किये हैं।

आर्य और दास । आर्य हो वह दास होसक्ता है और दास आर्य।"

"हां गौतम ! मैंने यह सुना है ! "

"अच्छा आश्वलायन ! बताओ ब्राह्मण अपनेको श्रेष्ठ किस बलपर कहते हैं और कैसे अन्योंको नीच ? "

"ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं, यह मान्य विषय है ।"

"तो क्या मानते हो आश्वलायन ! क्षत्रिय प्राणिहिंसक, चोर, दुराचारी, झूठा, चुगलखोर, कटुभाषी, बकवादी, लोभी, द्वेषी हो तो क्या काया छोड़, मरनेके बाद वह दुर्गति-नरकमें उत्पन्न होगा या नहीं ? ऐसे ही ब्राह्मण इन दुष्कर्मोंके करनेसे उस गतिको प्राप्त करेगा या नहीं ? और वैश्य या शूद्र क्या वैसे दुष्कर्मी हो उस गतिको प्राप्त नहीं होंगे ?"

'हे गौतम ! सभी चारों वर्ण प्राणिहिंसक आदि हो नरकमें उत्पन्न होंगे किन्तु ब्राह्मण तो श्रेष्ठ ही माने जाते हैं ।'

'तो क्या मानते हो आश्वलायन ! क्या ब्राह्मण ही प्राणिहिंसा आदि पापोंसे विरत होता है और मरणोपरान्त स्वर्गमें जाता है ? क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नहीं ? '

'नहीं, गौतम ! चारों ही वर्ण शुभ कर्मोंसे स्वर्ग पाते हैं ।'

'आश्वलायन ! तो फिर ब्राह्मण अपनेको कैसे सर्वश्रेष्ठ और अन्योंको नीच कहते हैं ।'

आश्वलायन बिचारा क्या कहता ? गौतमबुद्ध इसपर फिर बोले:—

"आश्वलायन ! मानलो एक क्षत्रिय राजा नाना जातिके सौ पुरुष इकट्ठे करे और उनसे कहे कि तुममेंसे जो ब्राह्मण, क्षत्री और

वैश्य हों वह आगे आये और चन्दनकाष्ठ लेकर आग बनावें, तेज प्रादुर्भूत करें। फिर वह राजा चाण्डाल, निषाद, वसोर आदि कुलोंके लोगोंसे धोबीकी कठरीकी अथवा एरेन्डकी लकड़ीसे आग सिलगानेको कहे और वे आग सिलगावें। अब आप बतायें कि क्या ब्राह्मणादि द्वारा सिलगाई गई आग ही आग होगी और उसीसे आगका काम लिया जायगा? चाण्डालादि द्वारा सिलगाई गई आग क्या आग नहीं होगी और क्या वह आगका काम नहीं देगी?"

'नहीं, गौतम! दोनों ही आग आगका काम देंगी।'

'तो फिर वर्णगत श्रेष्ठता कैसे मानी जाय?'

'ब्राह्मण तो जन्मसे ही अपनेको श्रेष्ठ मानते हैं।'

'तो क्या मानते हो आश्वलायन! यदि क्षत्रियकुमार ब्राह्मणकन्याके साथ सहवास करे, उनके सहवाससे पुत्र उत्पन्न हो। जो क्षत्रियकुमार द्वारा ब्राह्मण कन्यासे पुत्र उत्पन्न हुआ है, क्या वह माताके समान और पिताके समान, 'ब्राह्मण है' 'क्षत्रिय है', कहा जाना चाहिये?'

"हे गौतम कहा जाना चाहिये।"

"आश्वलायन! यदि ब्राह्मणकुमार क्षत्रियकन्यासे संवास करे और पुत्र उत्पन्न हो तो क्या उसे 'ब्राह्मण है' कहा जाना चाहिये।"

"हां, गौतम! कहा जाना चाहिये!"

"अच्छा आश्वलायन! अब मान लो, घोड़ीको गदहेसे जोड़ा मिलायें। उनके जोड़से बछड़ा उत्पन्न हो! क्या वह माता पिताके समान 'घोड़ा है' 'गधा है' कहा जाना चाहिए?"

"हे गौतम ! वह तो अश्वतर (=खच्चर) होता है। यहां भेद देखता हूं, उन दूसरोंमें कुछ भेद नहीं देखता ।"

"आश्वलायन ! मानलो दो माणवक जमुवे भाई हों। एक अध्ययन करनेवाला और उपनीत है; दूसरा अनूअध्यापक और अनू उपनीत है । श्राद्ध यज्ञ या पाहुनाईमें ब्राह्मण किसको पहले भोजन करायेंगे ?"

"हे गौतम ! जो वह माणवक अध्यापक व उपनीत है, उसीको प्रथम भोजन करायेंगे। अनूअध्यापक अनूउपनीतको देनेसे क्या महा फल होगा ?"

"आश्वलायन ! तो फिर जातिका क्या महत्व रहा ? गुण ही पूज्य रहे ! जानते हो उपालीको, वह अपने गुणोंके कारण विनय-धरोंमें प्रमुख है ।"

हाथकंगनको आरसी क्या करे ? बेचारा आश्वलायन यह सब कुछ देख सुनकर चुप होरहा । म० बुद्ध फिर बोले:—

"पूर्वकालमें ब्राह्मण ऋषियोंको जात्यभिमानने जब घेरा तब असित देवलऋषिने वृषलरूप धारण करके उनका मिथ्याभाव छुड़ाया था । ब्राह्मणोंसे असित देवल ऋषिने कहा कि तुम ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण समझते हो किन्तु जानते हो क्या कि ब्राह्मण जननी ब्राह्मणके पास गई, अब्राह्मणके पास नहीं ? ब्राह्मणोंने नकारमें उत्तर दिया । तब फिर देवल ऋषिने उनसे पूछा कि क्या आप जानते हैं कि ब्राह्मणमाताकी माता सात पीढ़ीतक मातामह युगल (नानी) ब्राह्मण हीके पास गई, अब्राह्मणके पास नहीं? ब्राह्मणोंने उत्तर दिया कि नहीं

जानते । उपरान्त देवलऋषिने उन पितामहको सात पीढ़ीतक ब्राह्मणीके ही पास जानेकी साक्षी चाही; जिसे भी वे ब्राह्मण न देसके । इसपर देवलऋषिने उनसे प्रश्न किया कि " जानते हैं आप गर्भ कैसे ठहरता है ?" ब्राह्मणोंने कहाकि जब मातापिता एकत्र होते हैं. माता ऋतुमती होती है और गंधर्व (=उत्पन्न होनेवाला, सत्व) उपस्थित होता है; इस प्रकार तीनोंके एकत्रित होनेसे गर्भ ठहरता है।" देवलने पूंछा कि वह गंधर्व क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य या शूद्र कौन होता है ? ब्राह्मणोंने कहाकि हम नहीं जानते कि वह गंधर्व कौन होता है? ऋषि बोले कि जब ऐसा है तब जानते हो कि तुम कौन हो ? ब्राह्मणोंने कहा कि हम नहीं जानते हम कौन हैं ?"

'इस प्रकार हे आश्वलायन! असित देवल ऋषि द्वारा जातिवादके विषयमें पूंछे जानेपर वे ब्राह्मण ऋषिगण भी उत्तर न देसके; तो फिर आज तुम क्या उत्तर दोगे ?"

यह सुनकर आश्वलायन माणवकने बुद्धको नमस्कार किया और वह बोला— आजसे मुझे अंजलिबद्ध उपासक धारण करें।"

उपस्थित सज्जनोंपर इसका अच्छा प्रभाव पड़ा। उपालीने और भी दृढ़ताके साथ गुणोंकी वृद्धिमें चित्त लगाया ! कहां कपिलवस्तुका नाई उपाली और कहां विनयधर भिक्षु उपाली ! जाति, कुल, शरीरमें अन्तर न होनेपर भी गुणोंके कारण नाई उपाली और विनयधर उपालीमें जमीन आसमान जैसा अन्तर पड़ गया। अतः मानना पड़ता है कि जाति, कुल, शरीर नहीं, गुण ही पूज्य हैं।

[२]

वेमना ।

" चित्त शुद्धि गलिग चेसिन पुण्यवु
कोंचमैन नदियु कोयवु गादु
वित्तनंवु मर्रि वृक्षंवु नकुनेंत
विश्व..................वेमा ! "

एक नंगा साधु गोदावरीके तटपर उक्त काव्यका उच्चारण मधुर कंठध्वनिसे करता हुआ विचर रहा था। जैसा ही उसका मधुर कंठरव था उससे अधिक मधुर और मूल्यमयी काव्यका भाव था। सच है; उसे कौन नहीं मानेगा कि "चित्त शुद्धिसे जो पुण्य प्राप्त होता है, थोड़ा होनेपर भी उसका फल बहुत है; जैसे वट-वृक्षके बीज !" देखनेमें तो वह जरासे होते हैं, परन्तु उनसे वृक्ष कितना विशाल उपजता है। उस बीजकी तरह ही तो चित्त शुद्धि धर्मक्षेत्रमें मोक्षप्राप्तिका मूल बीज है। एक दिगम्बर जैनाचार्यने इस चित्तशुद्धिको ही मोक्षप्राप्तिका मूल उपाय बताया है। वह कहते हैं कि:—

" जहिं भावइ तहिं जाहि जिय, जं भावइ करि तं ज;
केम्वइ मोक्खु ण अत्थि पर, चित्तहं सुद्धि ण जं जि !"

मनमें आवे वहां जाइये और दिल आये वह कीजिये; पर याद रखिये कि मोक्ष तबतक नहीं मिल सक्ता जबतक चित्तकी शुद्धि न हो। वस्तुतः चित्तशुद्धि ही धर्म-मार्गमें मुख्य पथ प्रदर्शक है।

जाति-पाँति, वेष-भूषा, कुरूप-सुरूपसे कुछ मतलब नहीं ! बड़ी जातिका बड़ा सुरूपवान बड़े मूल्यके वस्त्राभूषण धारण करते हुए भी चित्तशुद्धिके विना शोभा नहीं पासक्ता ! इसके विपरीत एक नीच और कुरूप दरिद्री चित्तशुद्धिके द्वारा उस शोभाको प्राप्त होता है कि देवता भी उसकी प्रशंसा करते हैं । गोदावरीके तटपर जो नंगा साधु इस निखर सत्यका प्रतिघोष कर रहा था वह उसका प्रत्यक्ष उदाहरण भी था । आइये पाठक, उसके जीवनपर एक दृष्टि डाल लें ।

दक्षिण भारतके आन्ध्रदेशमें गन्तूर शहर मशहूर है । इसी नगरसे वीस कोसकी दूरीपर 'कोंडवीडु' नामका एक ग्राम था, जो अब नष्टप्राय होगया है । उपरोक्त नंगे साधुका जन्म इसी ग्राममें सन् १४१२ ई० में हुआ था । उसका नाम वेमना था । मद्रास प्रान्तके सभी लोग उसके नाम और कामसे परिचित हैं ।

आन्ध्रदेशके शूद्र लोगोंमें रोडु नामकी एक जाति है । वेमना उसी जातिके थे । बचपनमें उन्होंने कोई शिक्षा नहीं पाई थी । वह अपनी जातिके राजाके पुत्र थे । पिताके बाद उनके बड़े भाई राजा हुये और वह भोगविलासमें जीवन विताने लगे । एक वेश्याके प्रेममें वह अंधे होगये । भाई बन्धुओं और मित्रोंका समझाना सब निष्फल गया ! किंतु इतने वेश्यासक्त होनेपर भी वेमना अपनी भावजको श्रद्धाकी दृष्टिसे देखते रहे ।

एक वार उस वेश्याने वेमनाकी परीक्षा लेना चाही । वह उनसे बोली:-

" प्यारे, तुम मुझे खूब प्यार करते हो; लेकिन अब तुमसे

अपनी एक कामना पूरी करवाना चाहती हूं। क्या तुम पूरी कर सक्ते हो?"

"क्यों नहीं! तुम्हारा यह दास दुनियांकी सब चीजें लाकर तुम्हारे चरणोंपर रख सकता है। निशङ्क होकर अपनी इच्छा बतलाओ!"

"सचमुच?"

"हां, सचमुच!"

"अच्छा; तो यहांकी परमसुन्दरी रानी-तुम्हारी भावज जो बहुमूल्य गहने पहनती हैं, एकबार उन गहनोंको पहननेकी इच्छा मुझे बहुत दिनोंसे है। क्या उन्हें लाकर मुझे दोगे?"

"अवश्य!"

वेमनाने कहनेको तो 'अवश्य' कह दिया; परन्तु वह मांके समान अपनी भावजसे यह बात कैसे कहें? हिम्मत न हुई! वह अनमने होकर एक पलंगपर जा पड़े! भोजनकी वेला हुई, सबने खाया; परन्तु वेमना न गये। नौकरोंने ढूँढ़ा। फिर भी वेमना नहीं मिले। आखिर भावज स्वयं ढूँढने गई उन्हें मिल गये। आश्चर्यान्वित हो उन्होंने कहा:—

"वेमना! तुम क्या कर रहे हो? सबने भोजन कर लिया और तुम यहीं पड़े हो? चलो, भोजन करो!"

"मुझे आज भूख नहीं है।"

"क्यों नहीं है?"

"ऐसे ही!"

"बतलाओ तो सही!"

"कुछ नहीं, मेरी प्रेमिका वेश्याकी एक इच्छा है। आप उसे पुरी करें तो मैं भोजन करूँगा।"

"वह क्या?"

"आपके सब गहने एकबार पहनना चाहती है!"

'इसीके लिए तुम इतने उदास हो? तुमने सीधे आकर मुझसे क्यो नहीं कहा?''

"हिम्मत नहीं थी!"

"अच्छा" कहकर भौजाईने एक बुलाकके सिवा सब गहने उतारकर देदिये। वेमना खुशी-खुशी वेश्याके घर पहुंचे। वेश्याने सब कुछ देखकर कहा:-

'प्यारे! तुमने बहुत अच्छा किया; लेकिन एक भूल की है।'

"वह क्या है?"

"सब गहने हैं; लेकिन एक बुलाक नहीं है; जिसपर हीरे जड़े हैं। इसलिए जल्दी जाकर वह भी ले आओ।"

"वेमना! फिर क्यों आए? क्या हुआ?"

"कुछ नहीं! बुलाक तो आपने दी ही नहीं!"

"सब गहने होनेपर यह एक बुलाक नहीं हुआ तो क्या हर्ज है?"

"ऐसा नहीं, जल्दी वह भी दे दीजिये। नहीं तो मेरी जान बचनी कठिन हो जायगी!"

भावजने हँसकर कहा-"वेमना, अपनी माता, बड़े भाई और सब घरबार छोड़कर इस वेश्यापर इतने लट्टू क्यों हो?"

" वह बहुत सुन्दरी है । "

" ऐसा ! तुम एक काम करो तो बुलाक भी देदूंगी । करोगे ?"

" हाँ । "

" तुम जाकर अपनी प्यारी वेश्याका नंगा बदन सिरसे पैरतक खूब देखकर आओ, मैं बुलाक देदूंगी ।"

वेमनाने जल्दी ही वेश्याके पास जाकर अपनी भावजकी बात कही। मान और लज्जाको तिलांजलि देकर वेश्याने गहनोंके लालचसे अपना नंगा बदन वेमनाको दिखाया। वेमनाने ध्यानसे उसे सिरसे पैरतक देखा। देखते ही एकदम वैराग्यसे उसका हृदय ओत-प्रोत होगया। वह तुरन्त वापिस अपनी भावजके पास पहुंचे और उनके पैरोंपर गिरकर बोले:-

"भौजाईजी ! आप अब मेरे लिये माता और देवीके समान हैं। अबतक मैं बड़ा मूर्ख था, मैं अभीतक नहीं जानता था कि जिसके लिये लाखों रुपये खर्च किये और लाखों गालियां खाईं, वह केवल दुर्गंध और मलमूत्रका स्थान है। वेश्या दुनियाके कलुषित पापोंकी जड़ है, केवल वेश्या ही नहीं, सारा संसार भी ऐसा है। माता ! तुम्हारे द्वारा मुझे ज्ञानदीक्षा मिली है और तुम्हारे ही कारण मैं संसारके बंधनोंसे छूट गया हूं। मैं अब इस कलुषित दुनियांमें पल-भर भी न रहूंगा, जाता हूं, विदा दीजिए।"

यह कहकर उन्होंने अंतिमवार भावजसे विदा ली और सदाके लिए घर छोड़ दिया !

घर छोड़कर वेमनाने योगाभ्यास किया और जंगलोंमें अकेले

घूमने लगे। तनपर एक कपड़ा भी नहीं रक्खा। कौपीन तक छोड़-कर वह नग्न दिगम्बर होगये! प्रकृतिके होकर वह प्रकृतिका रहस्य समझनेके लिये तल्लीन होगये। जो जन्मका शूद्र और जिसने वेश्याके प्रेममें डूबकर दिन बिताये थे, वह कपड़ा भी छोड़कर नंगे बदन जंगलमें घूमे! कितना परिवर्तन और कितना त्याग!! गुणोंकी आसक्ति और उपासना मनुष्यमें कायापलट कर देती है! वेमनाकी त्यागशक्ति और ज्ञानको देखकर बहुतसे लोग इनके शिष्य होगये। अपने शिष्योंको उन्होंने ये सात नियम बतलाये थे:—

(१) चोरी नहीं करना, (२) सब प्राणियोंपर दया करना, (३) जो कुछ है उसीसे संतुष्ट होना, (४) किसीका दिल न दुखाना, (५) दूसरोंको न छेड़ना, (६) क्रोध छोड़ना, (७) हमेशा परमात्माकी आराधना करना।

आत्मधर्मकी प्राप्तिके लिये निस्सन्देह उक्त नियम साधक हैं। वेमना प्रायः हमेशा मौन रहते थे, न किसीसे बोलते और न किसीसे भिक्षा मांगते। जब भूख लगती तब किसी पेड़के पत्ते या फल तोड़-कर खालेते। राहमें जाते समय जब शिष्यगण भिन्न भिन्न विषयों पर बहुतसे प्रश्न पूछते तब वह उन सबके उत्तर पद्यमें देते थे। इस समय उनके ५००० पद्य मिलते हैं। वह पद्य आकारमें छोटे, परन्तु भावोंमें समुद्रके समान गंभीर हैं। वेमनाके योगने उन्हें एक उच्च कवि भी बना दिया!

धर्मका प्रचार और योगाभ्यास करते हुए अन्तः ६८ वर्षकी आयुमें वेमनाने सन् १४८० ई० की चैत्र शुक्ला नवमीके दिन

कटारपल्ली नामके गांवमें शरीर छोड़ा । उनके वंशज एक छोटासा घर, खड़ाऊ और पोशाक अभीतक उनकी ही बतलाते हैं । अब जरा इस शूद्र कवि और योगीके पद्योंका रस लीजियेः—

" आलिमाटुल विनि अन्त दम्मुल वासि,
वेरे पोडु-व-डु वेरि वाडु;
कुक तोकपट्ट गोदावरी दुना,
विश्व........................वेमा । "

अर्थात्—' वेमना ! स्त्रियोंकी बातोंमें फंसकर (वासनावश) जो अपने भाई बंधुओंको छोड़ देता है, वह मूर्ख है । कहीं कोई कुत्तेकी पूंछ पकड़कर गोदावरी नदी पार कर सकता है । "

" उप्पु कप्पुरंबु नोक्कु पोलिकसंडु,
चूड चूड रुचुल जाडवेरु;
पुरुषुलन्दु पुण्य पुरुषुलु वेरया,
विश्व........................वेमा । "

" जैसे नमक और कपूर एक ही रंगके हैं तो भी उनके स्वादोंमें भेद होता है, उसी तरह पुरुषोंमें भी पुण्यात्मा और पापी पुरुष होते हैं ! "

" ओगु नोगु मेच्चु नोनरंग न ज्ञानी,
आव मिंचि मेच्चु परम लुब्धु;
पंदि बुरदु मेच्चु पन्नीरु मेच्चुना,
विश्व........................वेमा । "

"वेमना! बुरा आदमी बुरे आदमीकी प्रशंसा करता है, लोभी दिल खोलकर अपने जैसे कंजूसको प्यार करता है, जैसे सूअर कीचड़को प्यार करता है और इत्रको नहीं पूंछता।" *

[३]

चामेक वेश्या।×

मनुष्य प्रकृति सब ठौर एकसी है। वह स्त्री पुरुष, काले-गोरे, लंबे-बौनेकी अपेक्षा नहीं रखती। मनुष्य मात्रकी यह इच्छा रहती है कि वह सुखी रहे और लोकमें उसकी प्रतिष्ठा हो। एक शीलवान् पुरुष और स्त्रीकी भी यही भावना होती है और एक चारित्र-हीन वेश्याकी भी। वेश्यायें भी दुःखी और अपमानजनक जीवन बिताना नहीं चाहतीं। पापी पेट और दुश्चरित्र मनुष्योंकी नृशंसता उन्हें अपना रूप और यौवन बेचनेके लिये लाचार कर देता है। वैसे भला कौन अपने शरीरको उस आदमीको छूने देगा जिसे उसकी आत्मा पास बिठानेके लिये भी तैयार नहीं होता। यह मनुष्य प्रकृति ही अनेक वेश्याओंको एक पुरुषके साथ जीवन बिताने अथवा विवाह करनेके लिये उ[illegible] बना देती है और वे वैसा करती भी हैं। दक्षिण भारतकी एक वेश्याने ऐसा ही किया था। वह एक पुरुष व्रती होकर ऋषियों द्वारा प्रशंसित हुई थी! कहां एक वेश्या नारकी जीवन और कहां धर्मात्माकी पवित्रता! किन्तु मनु-

---

* 'त्यागभूमि' से संक्षिप्त उद्धरण।

× पी० इंडिका, भा० ७-पृ० १८२ दिये दान पत्रके आधारसे।

व्यकी चित्तशुद्धि उसमें अचिन्त्य परिवर्तन ला उपस्थित करती है फिर वह चाहे पुरुष हो या स्त्री! इससे कुछ मतलब नहीं। चित्त-शुद्धिको प्राप्त करनेकी योग्यता मनुष्य मात्रमें हैं।

दक्षिण भारतमें ईस्वी ६वीं—७वीं शताब्दियोंके मध्य चालुक्य वंशी राजा विजयादित्य—अम्म द्वितीय राज्य करते थे। वह एक वीर और धर्मात्मा राजा थे। ब्राह्मणोंपर अत्यधिक सदय होते हुये भी उसने जैनधर्मके उत्कर्षके लिये दान दिया था। उस धर्मात्मा राजाने अपने समयकी प्रसिद्ध वेश्या चामेकको देखा। अन्य वेश्यायें उसके सम्मुख न-कुछ थीं। वे कुमुदिनी थीं और चामेक उनके लिये सूर्य! निस्सन्देह सौंदर्यकी वह मूर्ति थी। अम्मने उसे देखा। उन्हें यह न रुचा कि उनके राज्यका सर्वोत्तम सौंदर्य योंही बाजारू वस्तु बना रहे। उन्होंने उसका मूल्य आंका और उस नयनाभिराम रूपको अपने राजमहलोंमें स्थान दिया।

चामेकको राजाकी प्रेयसी बननेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। वह थी भी इसी योग्य। रूप ही नहीं गुण भी उसके पास थे। विद्या-कला और नीति-चातुर्यमें वह अद्वितीय थी।

खरबूजेको देखकर खरबूजा रंग पलटता है। पारसकी संगतिसे लोहा सोना होजाता है। चा क धर्मात्मा अम्मकी संगति पाकर बहुत कुछ बदल गई। अब उसका सारा समय बनाव-शृङ्गारमें ही व्यतीत नहीं होता था। उसका हृदय कोमल था और चरित्र पवित्र! अन्य वेश्या-ओंके समान धर्मधनको लुटाकर द्रव्यधनको लेनेमें उसे मज़ा नहीं आता था। वह धर्मधनको संभाले हुये थे और द्रव्यधनको लुटानेमें—

दान देनेमें उसे बड़ा आनन्द आता था। सत्पुरुषों और विद्वानोंसे चर्चा-वार्ता करनेमें वह जितना रस अनुभव करती थी उतना रस वह संगीतमें नहीं पाती थी। सत्संगति करते करते वह बहुत ऊंची उठ गई, लोग उसे धर्मकी देवी समझने लगे।

उस समय वलहरिगण और अड्कलिगच्छके दिगम्बर जैनाचार्य प्रसिद्ध थे। चामेक एकरोज उनके पास पहुंची और चरणोंमें शीश नमाकर उन आचार्यसे उसने विनय की कि "प्रभो! मैं बड़ी अभागिन हूं जो एक गणिकाके गृहमें मेरा जन्म हुआ; किंतु धन्यवाद है सम्राट् अम्मको जिन्होंने पापपङ्कसे निकालकर मेरा उद्धार किया। प्रभो! मुझे आत्मकल्याण करनेका अवसर प्रदान कीजिये।"

आचार्यने कहा—"चामेक! तुम अभागिन नहीं सौभाग्यवती हो। जानती हो, रत्न कैसी भद्दी और भोंडी जगहसे और कैसे मैले रूपमें निकलते हैं? वही रत्न राजा-महाराजाओंके शीशपर शोभते हैं।"

चामेक—"नाथ! आप पतितपावन हैं, मुझे जैनधर्मकी उपासिका बना लीजिये।"

आचार्यने बड़े हर्ष और उल्लाससे चामेकको श्रावकके व्रत प्रदान किये। अब चामेक 'श्राविका चामेक' नामसे प्रसिद्ध होगई और वह अपने नामको सार्थक करनेके लिये खूब दान पुण्य और धर्मकार्य करने लगी। उस समयके प्रसिद्ध जिनमंदिर "सर्वलोकाश्रय-जिनभवन" के लिये उसने मूलसंघके अर्हन्नन्दि आचार्यको दान दिया। इस दानसे उसकी निर्मल कीर्ति दिगंतव्यापी होगई। सचमुच उस समय जैन मंदिर वास्तविक जैन मंदिर थे—वह सर्वलोक आश्रय थे।

सारा ही लोक उनमें शांतिमई विश्राम पाता था। श्राविका चामेकने एक दानशाला खुलवाई, अम्मने उसके सम्मानके लिये अपना नाम उसके साथ जोड़ दिया। चामेक इन धर्मकार्योंको करके कृतकृत्य हुई। अम्मद्वितीयने एक ताम्रपत्र खुदवाया और उसमें चामेककी कीर्ति-गरिमाको सुरक्षित कर दिया। वह ताम्रपत्र आज "कुलचुम्बाई दानपत्र" के नामसे अभिहित है। उसमें लिखा है कि "चामेक सम्राट् अम्मकी अन्यतम प्रियतमा और वेश्याओंके मुखसरोजोंके लिये सूर्य तथा जैन सिद्धान्तसागरको पूर्ण प्रवाहित करनेके लिये चन्द्रमाके समान है। उसे विद्वानोंसे धर्मोपदेश सुननेमें बहुत आनंद आता है।"

ऐसी थी वह जन्मकी वेश्या! धर्मको उसने अपनाया, उसे महत्वशाली समझा और धर्मने उसे महान् यश और सुख प्रदान किया। साधु लोग भी उसके गुणोंकी प्रशंसा करने लगे। सचमुच:—

"पड़ो अपावन ठौर पै, कंचन तजै न कोय!"

---

[४]

रैदास ।*

चमारोंके मुहल्लेमें एक छोटासा बालक खेल रहा था। एक एक हिन्दू सन्यासी उधर आ निकले। उनका नाम रामानन्द था। बालक दौड़ता हुआ गया और उनके पैरोंपर लोट गया। रामानंदने उसे गौरसे देखा। था तो वह जन्मका चमार, परन्तु उसके सुन्दर

* 'भक्तमाल' के आधारसे।

मुखपर उसका उज्ज्वल भविष्य प्रतिबिम्बित था। रामानन्दने उसका नाम रैदास रख दिया। रैदास खेलता-कूदता बड़ा होगया। उसका व्याह एक चमार कन्यासे कर दिया गया। पति-पत्नी आनन्दसे रहने लगे।

रैदास जूते बनाने और बेचनेका काम करने लगा; किन्तु और चमारोंसे उसमें एक विशेषता थी। वह बड़ा संतोषी था और साधु-संतोंके प्रति उसके हृदयमें भक्ति थी। जब कभी वह किसी फकीरको अपने घरके सामनेसे निकलता देखता, वह झटसे उसे लिवा लाता और बड़े प्रेमसे बढ़िया जूता उसके पाँवमें पहना देता। ग़रीब माता-पिताके लिये रैदासकी यह उदारता असह्य होगई। एक रोज़ माँने कहा—'बेटा! इन भिखमंगोंमें ऐसे धनको लुटाओगे तो गृहस्थी कैसे चलेगी? अब तुम सयाने हुये, ज़रा समझसे काम लो!' रैदास माँका उलहना सुन मुस्करा कर घरमें एक ओर भाग गया और अपना उदार व्यवहार न बदला।

रैदासके बापने सोचा, यह ऐसे नहीं मानेगा। उसने रैदासकी अक्ल ठिकाने लानेके लिये उसे घरसे अलग कर दिया। घरके पिछवाड़े मढ़ैया डालकर रैदास अपनी पत्नीके साथ रहने लगा और जूते बना-बेचकर अपना गुज़ारा करने लगा; किन्तु इस अर्थ संकटापन्न दशामें भी उसने अपनी उदारतामय बात न भुलाई। वह भुलाई भी कैसे जाती? मनुष्य संस्कार सहज नहीं मिटता और शुभ संस्कार तो पूर्वजन्मकी अच्छी कमाई ही से मिलता है। रैदासके जीवने पूर्वभवमें धर्ममय जीवन विताया कि उसे अच्छा-सा स्वभाव मिला;

किन्तु मालूम होता है उसे अपनी जातिका अभिमान रहा इसीलिये उसे चमारके घर जन्म लेना पड़ा। अथवा यूं कहिये कि चमारोंके उद्धारके लिये ही वह पुण्यात्मा उनमें जन्मा था।

रैदास अपनी थोड़ी-सी आमदनी—रोटी दाल भरके पैसे कमानेमें ही संतुष्ट था! अपनी उस दशाको वह दरिद्रता नहीं समझता था। सचमुच दरिद्रता और धनसम्पन्नताका सम्बन्ध मनसे है। तृष्णारहित आकिञ्चन्य, लखपतीसे लाख दर्जे सुखी होता है। रैदासको तृष्णा नहीं थी। इसीलिये वह अपनी थोड़ी-सी कमाईमें खुश था और उसमें भी दान पुण्य कर लेता था।

एक रोज़ एक सन्त उसके यहां आये। उन्हें रैदासकी ग़रीबी पर तरस आगया। एक पारसमणि उनके पास था। सन्तने उसे रैदासको देना चाहा। रैदासने अनमने भावसे उसे लेकर अपने छप्परमें घुरस दिया। सन्त कुछ दिनों बाद फिर आया। रैदासकी वहीं हीनावस्था देखकर उसे आश्चर्य हुआ। उसने पूछा—'रैदास! पारसका तुमने क्या किया?'

रैदासने उत्तर दिया—"यहीं इस छप्परमें घूरस दिया था।" संत रैदासकी निस्पृहता और संतोषको देखकर आश्चर्यचकित हो बोला—'भाई! तुम विवेकी हो। लक्ष्मीकी चंचलताको जानते हो, इसलिये उसके लिये मोह नहीं रखते; पर भाई, पुण्यसे जो स्वयमेव मिले उसका उपभोग करो, तुम अभी गिरस्थी हो।"

रैदासने संतके कहनेसे आवश्यक्तानुसार धन लिया; परन्तु उसे गाड़कर नहीं रक्खा और न मौजशौकका मजा लूटनेमें उसे

खर्च किया। उस रुपयेसे उसने मंदिर और धर्मशाला बनवाये। अलबत्ता उसने अपना घर भी पक्का बनवा लिया और उसमें मूर्ति पधराकर भगवान् रामकी उपासना करने लगा।

रूढ़िके दास हुए मनुष्य विवेकसे काम लेना नहीं जानते। वर्णाश्रमधर्मके अन्धभक्त ब्राह्मणोंने जब यह सुना कि एक चमार मूर्तिको पधराकर उसकी पूजा कर रहा है तो उनके दिमागका पारा ऊंचे आस्मानको चढ़ गया। क्रोधमें भरे हुये वे राजाके पास ही शिकायत लेकर गये। राजाने रैदासको बुला भेजा और पूछा कि "क्या तुमने मूर्तिकी स्थापना की है।"

रैदासने उत्तरमें मूर्ति-स्थापनकी बात स्वीकार की। राजाने कहा—"यह बात तो नई है।"

रैदास बोला—"महाराज! संसारमें नया कुछ भी नहीं है—दृष्टिका भेद ही नये-पुरानेकी कल्पना डालता है। हां, कोई भी काम हो, बुरा न होना चाहिये। देवकी आराधना करना क्या बुरा कर्म है?"

राजा—"बुरा तो नहीं है; परन्तु ये ब्राह्मण कहते हैं कि चमार मूर्तिकी पूजा नहीं कर सक्ता।"

रैदास—"महाराज! यह इनका भ्रम है। जातिसे कोई जीवात्मा अच्छा बुरा नहीं होजाता—भला बुरा तो वह अच्छे बुरे काम करनेसे होता है। उसपर मूर्ति तो ध्यानका एक साधन मात्र है। उसके सहारेसे आराध्य देवके दर्शन होते हैं। यह साधना प्रत्येक मनुष्य क्यों न करे? इसपर भी राजन्! यदि इन ब्राह्म-

णोंको अपनी जातिका अभिमान है तो यह मूर्तिको अपने पास बुला लें, मुझे कोई आपत्ति न होगी। मेरे देवता मुझसे रुष्ट होंगे तो वहां चले आयेंगे।"

रैदासकी अंतिम बातपर ब्राह्मण भी राजी होगये। वे वेद मंत्रोंका पाठ करनेमें दत्तचित्त हुए--सब क्रियाकाण्ड उन्होंने कर डाला; पर मूर्तिके वहां कहीं भी दर्शन न हुये। अब रैदासका नंबर आया। रैदासने एकाग्रचित्त हो यह राग अलापा:—

"देवाधिदेव! आयो तुम शरणा; कृपा कीजे जान आपनो जना!"

राग पूरा भी नहीं हुआ था, कहते हैं उसके पहले ही मूर्ति रैदासकी गोदमें आ बैठी! ब्राह्मण हतप्रभ हुये। रैदासका यह प्रभाव देखकर राजाकी रानी झाला उनकी भक्त होगई! उसके बाद और भी अनेकों उनके भक्त हुये। रैदासने अपने सद्उद्योगसे ब्राह्मणोंके सिरसे जातिमूढ़ताका भूत उतार दिया!

एक चमार लोगोंद्वारा मान्य हुआ, यह सब गुणोंका माहात्म्य है। इसलिये विवेकी पुरुषोंको जाति-कुलका घमंड नहीं करना चाहिये।

[९]

कबीर।*

बनारसमें नूरी जुलाहा और उसकी पत्नी नीमा रहते थे। मुसलमान होनेके कारण लोग उन्हें 'म्लेच्छ' कहते थे। कबीर उन्हींका बेटा था। वह था जन्मसे जुलाहा और काम भी करता

*'भक्तमाल' और 'हिन्दी विश्वकोष' भा० ४ पृष्ठ २८-३२ के आधारसे।

था जुलाहेका, परन्तु उसे ज्ञानकी बातें करनेमें मज़ा आता था। इसे उसका पूर्वभवका शुभ संस्कार कहना चाहिये।

उस समय बनारसमें वैष्णव सन्यासी रामानन्द प्रसिद्ध थे। कबीरने उनका नाम सुना। वह उनका शिष्य बननेके लिये आतुर हो उठा। किन्तु उसके पड़ोसी हिन्दुओंने कहा कि 'पागल होगया है-तू म्लेच्छ-तुझे रामानंद कैसे अपना शिष्य बनायेंगे?' कबीर इससे हताश न हुआ। एक दिन उसके जान पहचानके हिन्दूने एक उपाय बताया-कबीरने वही किया।

रामानंद अर्द्धरात्रिको गंगास्नान करने जाते थे। कबीर रात होते ही उनके दरवाजेपर जा पड़ा। रामानंद ज्योंही निकले उनके पैर कबीरके शरीरसे लगे, कबीरने उन्हें चूम लिया। रामानंद हड़-बड़ाकर बोले-'राम! राम! कौन रास्तेमें आ पड़ा!' कबीरने यही गुरुमंत्र समझा। रामानंद गंगाको गये और कबीर अपने घर! जब-तक मनुष्यको अन्तर्दृष्टि नहीं मिलती वह बाहरी क्रियाकांडमें ही धर्म मानता है; यद्यपि वह होता उससे बहुत दूर है। गंगास्नानकी बात भी ऐसी ही है। गंगाजल निर्मल है, श्रेष्ठ है, शरीर मल धोनेके लिए अद्वितीय है; किन्तु उससे अंतरका मैल, क्रोधादि कषायोंका मिटना असंभव है। क्रियाकाण्डी दुनिया इस बातको जान ले तो उसका कल्याण हो। कबीरने इस सत्यको जान लिया था। इस-लिये ही उसने कोरे क्रियाकाण्डका विरोध किया था। खैर;

कबीरने अब अपनेको रामानन्दका शिष्य कहना प्रारम्भ कर दिया। हिन्दू यह सुनकर आश्चर्य करने लगे और उनसे अधिक

आश्चर्य तथा संताप कबीरके माता-पिताको हुआ। एक मुसलमानके घरमें 'राम-राम' का जाप किया जाय, यह कैसे वह सहन करते? मतांध लोग नाम और भेषमें ही अटके रहते हैं; किन्तु सत्यके पोषक नामरूपको न देखकर तत्वको देखते हैं। राम कहो चाहे रहीम, मुख्य बात जाननेकी यह है कि आराध्यदेवमें देवत्वके गुण हैं या नहीं! मुख्यतः देवका पूर्ण ज्ञानी, हितोपदेशी और निर्दोष होना आवश्यक है। ऐसे देवको चाहे जिस नामसे जपिये, कुछ भी हानि नहीं है। कबीरको संभवतः यह सत्य सूझ पड़ा था। इसीलिये उन्हें 'राम' नाम जपनेमें भी संकोच नहीं था।

किन्तु मतांध दुनियांको यह बुरा लगा। एक म्लेच्छका गुरु और ब्राह्मणोंका गुरु एक कैसे हो? बनारसमें तहलका मच गया। रामानंदने भी यह सुना। उन्हें बड़ा क्रोध आया। झटसे कबीर उनके सामने पकड़ बुलाये गये। रामानंदने पूछा— कबीर! मैंने तुझे कब शिष्य बनाया, जो तू मुझे अपना गुरु बताता है?

कबीरने उस रातवाली बात बतादी, किन्तु रामानन्दका वर्णाश्रमी हृदय एक म्लेच्छको—मुसलमानको शिष्य माननेके लिये तैयार न था। यह देखकर कबीरसे न रहा गया। उसने कहा—

"जातिपांति कुल कापरा, यह शोभा दिन चारि।
कहे कबीर सुनहु रामानन्द, येहु रहे झकमारि॥
जाति हमारी बानिया, कुल करता उरमांहि।
कुटुंब हमारे सन्त हो, मूरख समझत नांहि॥"

कबीरकी ज्ञान बातें सुनकर रामानंद क्रोध करना भूल गये।

उनने हंसतेर कबीरको आशीर्वाद दिया। उस दिनसे लोग कबीरको एक भक्तवत्सल जीव समझने लगे।

कबीरके हृदयमें अमित दया थी। एक रोज यह कपड़ेका थान लेकर बाजारमें बेचने गये। रास्तेमें एक गरीबने उनसे वह कपड़ा मांगा। जाड़ेके दिन थे, वह बेचारा ठिठर रहा था। कबीरका दिल उसकी पीड़ा न देख सका। उसको पूरा थान देदिया। वह गरीब खुशी खुशी चला गया। कबीर सोचने लगे कि अब मांको क्या दूंगा? वह मेरी प्रतीक्षामें होगी? पैसे न होंगे तो आज अन्न कहांसे आयगा? दूसरे क्षण उनके मनने कहा कि अन्न आये चाहे न आये परन्तु गरीबका दुख निवारनेसे जो आनंद मिला वह अपूर्व है। कबीरका हृदय आनंद विभोर हो थिरकने लगा।

पुण्यकर्म अपना फल दिये बिना नहीं रहता। कहते भी हैं, इस हाथ दे उस हाथ ले। कबीरकी परोपकार वृत्ति एक महात्माको ज्ञात हुई और उन्होंने उनका अन्न संकट भी जाना। झटसे मनों अन्न उनके घर भेज दिया। कबीरने घर पहुंचकर जब यह देखा तो उसे दैवी परिणाम जानकर खूब दान पुण्य किया। सारे बनारसमें उसका नाम होगया। बनारसके राजाने भी उनका आदर-सत्कार किया।

कबीर दान देते, राम भजन करते और तीर्थ-यात्राको जाते हुये अपना जीवन विताने लगे। ऐसा भला जीवन विताते हुए भी उनके दुश्मन हिंदू और मुसलमान दोनों ही थे। होनीके सिर, उस-समय दिल्लीके बादशाह सिकन्दर लोदी अपना लाव-लश्कर लिये

बनारसमें आ जमे। कबीरके दुश्मनोंने इसे सोने-सा अवसर समझा। कबीरकी मांको साथ लेकर ब्राह्मणोंने जाकर बादशाहसे शिकायत की कि 'हुजूर! कबीर बड़ा जुल्म ढारहा है! उल्टा-सीधा उपदेश देकर लोगोंको बहका लेता है। न वेद मानता है और न कुरान। उसका शिष्य होकर मनुष्य न मुसलमान रहता है और न हिन्दु।'

बादशाहको भी यह बुरा लगा। उसने कबीरको पकड़वा मंगवाया। कबीरके हृदयमें बादशाहके लिये जरा भी आदर या उसका भय नहीं था। उसने बादशाहको सलाम भी नहीं किया। बादशाह गुस्सेसे लपलपाता हुआ बोला कि "कबीर! तू लोगोंको दीन वं धर्मसे गुमराह कर रहा है।"

कबीरने हंसते हुये कहा—"गुमराह नहीं बल्कि राहे रास्तपर उनको लगाता हूं। हिन्दुओंके राम और मुसलमानोंके रहीम भिन्न नहीं हैं; अनुसन्धान करनेसे वे मनुष्यको अपने भीतर मिलेंगे।"

बादशाहको कबीरका यह मत नहीं रुचा। उसने कबीरको प्राण दण्डकी सजा दी; किन्तु कबीरका आयुकर्म प्रबल था—वह बाल बाल बच गया। अब लोग उसे एक सन्त पुरुष समझने लगे।

कबीर चित्त-शुद्धि पर अधिक जोर देते थे। और क्रियाकाण्डके वह हिमायती नहीं थे। वह कहते थे:—

"मनका फेरत युग गयो, गयो न मनका फेर।
करका मनका छोड़कर, मनका मनका फेर॥"

कबीर जाति-पांतिको एक तात्विक भेद नहीं मानते थे।

उनके निकट ब्राह्मण, शूद्र बराबर थे। इस विषयमें उनका कहना था—

काहेको कीजे पांडे छूत विचारा।
छूतिहिं ते अपना संसारा॥
हमरे कैसे लोहू, तुम्हरे कैसे दूध।
तुम कैसे ब्रांमन पांडे, हम कैसे सूद॥
छूति छूति करता तुम्हहीं जाये।
तौ गर्भवास काहेको आये॥
जनमत छूति मरत ही छूति।
कहं 'कबीर' हरिकी निरमल जोति॥

सच है जब बडेसे बडे छूत—ब्राह्मणादिको जन्मते और मरते अछूतके बिना गति नहीं मिलती, तब व्यवहारिक कल्पनाके आधार-पर उनसे घृणा करना और अपनी जातिके मदमें अंधे होजाना उचित नहीं कहा जा सक्ता। एक तत्वदर्शीको जाति मद हो ही नहीं सक्ता! तत्वदर्शी जैनाचार्य भी तो यही कहते हैं:—

"छोपु अछोपु कहे वि को वंचउ।
जहं जहं जोवउं तहं अप्पाणउ॥"

छूत अछूत कहकर किसकी वंचना करूँ? मैं जहां जहां देखता हूं वहां आत्मा ही आत्मा दिखाई पड़ती है। वस्तुतः संसारी जीव मात्रमें दर्शन-ज्ञानमई आत्मा विद्यमान है। शरीर पुद्गलको देखकर उसे कैसे भुला दिया जाय? धर्मविज्ञान तो तात्विक दृष्टि प्रदान करता है और उसीसे आत्माका कल्याण होता है। कबीरने

इस तरह ठीक ही जातिमदका निषेध किया था। वह स्वयं इस क्षेत्रमें एक जीता जागता प्रमाण था। जुलाहा होकर भी वह अनेकोंका श्रद्धास्पद और मार्गदर्शक बना था।

आखिर बनारसमें ही मणिकर्णिका घाटके उस पार कबीरने अपने इस शरीरको छोड़कर परलोकको प्रस्थान किया था। मरते-मरते भी उन्होंने लोकमूढताका प्रतीकार किया, क्योंकि लोगोंको विश्वास था कि उस पार जाकर शरीर छोड़नेसे मनुष्य दुर्गतिमें जाता है।

सारांश यह कि जन्मसे मनुष्य चाहे जिस जाति और परिस्थितिमें रहे; परन्तु यदि उसे श्रेष्ठ गुणोंको अपनानेका अवसर दिया जाय तो वह अपनी बहुत कुछ आत्मोन्नति कर सक्ता है। इस खण्डमें वर्णित उपरोक्त ऐतिहासिक कथायें हमारे इस कथनकी पुष्टि करती हैं। अतः मनुष्य मात्रका यह धर्म होना चाहिये कि वह जीव मात्रको आत्मोन्नति करनेका अवसर, सहायता और सुविधा प्रदान करे—किसीसे भी विरोध न करे! विश्वप्रेमका मूलमन्त्र ही जगदोद्धारक है। निःसन्देह अहिंसा ही परमधर्म है।

'अहिंसा परमो धर्मः, यतो धर्मस्ततो जयः'

अलीगंज (एटा)
११ बजे मध्याह्न } कामताप्रसाद जैन।
ता० १२-१०-३४